विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम

हिन्दी
त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७१ ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● ब्रह्मचारी देवेन्द्र

सह-सम्पादक ● ब्रह्मचारी सन्तोष

वार्षिक ४) | वर्ष ९ अंक ४ | एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय---स्वामी विवेकानन्द
(शिकागो, अमेरिका में, सितम्बर १८९३)

मुद्रक : विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर-२

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ९] अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७१ ★ एक प्रति का १)

मुक्ति का अधिकारी

विषयाशामहापाशात् यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ।।

—विषयों की आशारूपी महापाश छोड़ने में अत्यन्त कठिन है। उससे जो छूट गया वही वास्तव में मुक्ति का अधिकारी होता है—अन्य कोई भी नहीं, चाहे वह षट्शास्त्रों का ज्ञाता ही क्यों न हो।

—विवेकचूड़ामणि ७८।

सिद्धि—साधक नहीं, बाधक

किसी तपोवन में एक महात्मा रहा करते थे। साधना के फलस्वरूप उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त होने लगीं। सिद्धियों के आकर्षण में पड़कर वे रास्ता भटक गये और उनकी साधना शिथिल हो गयी। उन्हें अपनी सिद्धाई का बड़ा अभिमान भी हो गया। जहाँ तहाँ वे अपनी अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन करते और लोगों के पास डींग मारा करते। पर वे स्वभाव के अच्छे थे और उन्होंने जप-तप भी बहुत किया था। अतएव भगवान् को अपने इस भक्त के लिए चिन्ता हो गयी। भगवान् तो गर्वहारी हैं और उनका सहज स्वभाव है अपने भक्तों का अभिमान खा जाना। वे एक साधु का वेश धारण कर उस महात्मा के पास आये और उनसे कहा, "महात्मन्! मैंने सुना है कि आपमें बड़ी अलौकिक शक्तियाँ हैं।" महात्मा ने साधु की आवभगत की और बैठने के लिए आसन दिया। इतने में रास्ते से एक हाथी गुजरा। साधुवेशधारी भगवान् ने महात्मा से कहा, "भगवन्! क्या आप इच्छा करें तो इस हाथी को मार सकते हैं?" महात्मा ने उत्तर दिया, "हाँ, यह सम्भव है।" ऐसा कह उन्होंने एक चुटकी धूल ली, कुछ मंत्र पढ़ा और उसे हाथी पर छिड़क दिया। हाथी पीड़ा से कुछ देर तड़पता रहा और फिर उसने दम तोड दिये। भगवान् बोले, "कैसी

अलौकिक शक्ति है आपमें ! आपने हाथी को मार दिया !" सुनकर महात्मा हँसने लगे । भगवान् ने पुनः कहा, "अच्छा महाभाग ! क्या आप हाथी को फिर से जिला भी सकते हैं ?" महात्मा उत्तर मे बोले, "हाँ जी, वह भी सम्भव है ।" उन्होंने ऐसा कह चुटकी में पुनः धूल ली, उसे अभिमंत्रित किया और हाथी की मृत देह पर छिड़क दिया । तुरन्त हाथी में चेतना का संचार हुआ, उसकी देह में कँपकँपी छूटी और थोड़ी ही देर में वह उठ खड़ा हुआ । यह देखकर भगवान् बोले, "महात्मन् ! आपकी शक्ति आश्चर्यजनक है । आपमें बड़ी अलौकिक सिद्धियाँ हैं । पर मैं एक बात आपसे पूछूँ ? आपने हाथी को मारा और उसे फिर से जिला दिया । पर इससे आपका क्या लाभ हुआ ? क्या उस सिद्धि से आपको अध्यात्म के पथ पर बढ़ने में सहायता मिली ? क्या वह आपके ईश्वर-दर्शन के लिए साधक बना ?" इतना कह भगवान् अन्तर्धान हो गये ।

धर्म की गति बड़ी गहन है । जब तक मन में कामना का लेशमात्र भी है, ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता । यदि धागे में तनिक भी फुचड़ा निकला हो तो वह सुई के छेद में नहीं जाता । साधक के जीवन में सिद्धियाँ धागे के फुचड़े के समान हैं जो उसकी लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक सिद्ध होती हैं ।

•

शरणागति

स्वामी प्रभवानन्द

(स्वामी प्रभवानन्दजी वेदान्त सोसायटी ऑफ सदर्न कैलिफोर्निया, हालीवुड, अमेरिका के अध्यक्ष हैं। प्रस्तुत लेख 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' नामक अँगरेजी द्वैमासिक पत्रिका के मई-जून १९४४ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से यह साभार गृहीत हुआ है।—सं.)

मैं मुण्डक उपनिषद् के दो प्रसिद्ध श्लोकों का उद्धरण देते हुए अपनी बात प्रारम्भ करूँगा (३।१।१-२)—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।

—"एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखा-भाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के सुख-दुःखरूप फलों का स्वाद ले लेकर उपभोग करता है जबकि दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।"

"शरीर रूपी उसी एक वृक्ष पर रहनेवाला जीवात्मा शरीर की गहरी आसक्ति में डूबा रहने के कारण असमर्थतारूप दीनता का अनुभव करता है और परमात्मा

के साथ अपनी एकता की विस्मृति से मोहित होकर शोक करता रहता है। पर जब वह (भगवान् की अहैतुकी दया से) परम उपास्य परमेश्वर को अपने से भिन्न न देख, अपनी ही आत्मा के रूप में देखता है और उसकी महिमा को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है।"

ये अनुभूत सत्य हैं। ऋषियों और महात्माओं ने अपनी अन्तरात्मा में इन सत्यों की अपरोक्ष अनुभूति की है। ऐसे सत्य निस्सन्देह सार्वभौम हुआ करते हैं और जो भी इन सत्यों की अनुभूति प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करने के लिए तैयार है, वह उनका साक्षात्कार कर सकता है।

दो पक्षियों का दृष्टान्त हमारे समक्ष मनुष्य के यथार्थ स्वरूप और उसके दृश्यमान स्वरूप का सत्य उपस्थित करता है। वह बतलाता है कि मनुष्य का दु:ख उसके अपने वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण है। ईश्वर है। वही चरम सत्य है और 'सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' (सदैव लोगों के हृदय में विद्यमान है)। वह आनन्दस्वरूप आत्मा अपने साथी की अशान्ति को देखता हुआ शान्त बैठा है। दृष्टान्त हमें यह बतलाता है कि अन्त में दोनों पक्षी एक में मिल जाते हैं। आत्मा ही यावत् अस्तित्व है।

अतएव हमारे दु:खों का कोई सच्चा कारण नहीं है और न कोई प्रयोजन ही है। यह बाहरी जीवन एक

सपना है—अनुभव रूपी वृक्ष के मधुर और कड़ुवे फलों का चखना एक स्वप्न है, जिससे हम जिस किसी क्षण जग सकते हैं। कभी कभी हमारा सपना सुखदायी होता है, तो कभी दुखदायी। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो हमें बताते हैं कि जीवन की दुखदायी और अशुभ चीजें मिथ्या हैं तथा केवल सुखदायी और शुभ चीजें ही सत्य हैं। पर ऐसा तो हो नहीं सकता। सुख और दुःख, शुभ और अशुभ वेदान्त की भाषा में 'द्वन्द्व' हैं, अतएव इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। वे मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनका स्वरूप भिन्न भिन्न नहीं हो सकता। या तो दोनों सत्य हैं, या फिर दोनों ही मिथ्या।

ईश्वरवादियों ने शताब्दियों तक अशुभ के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क किया है। प्रश्न यह है कि यह अज्ञान क्यों है? मनुष्य अपने दैवी स्वरूप से अनभिज्ञ क्यों है? पर इस प्रश्न का उत्तर तो वे ही दे सकते हैं जो मानवी चेतना का अतिक्रमण कर शुभ और अशुभ की धारणा से ऊपर उठ गये हैं। हम स्वप्न क्यों देखते हैं? इसका उत्तर तो तभी दिया जा सकता है जब हम नींद से जग गये हैं। जिन ऋषियों ने अतिचेतन अवस्था प्राप्त कर ली है, वे बताते हैं कि अशुभ की तथाकथित समस्या वास्तव में कोई समस्या ही नहीं है, क्योंकि अशुभ का अस्तित्व न तो है और न था। परन्तु हम आज सापेक्ष जगत् में रहते हैं और हमारी चेतना भी

इसी जगत् से लिपटी हुई है, अतएव हम जैसे लोगों के लिए यह प्रश्न कि अज्ञान कैसे उपजा, मात्र सैद्धान्तिक है। हमारे लिए तो यही पूछना उचित है कि हम अपने अज्ञान को कैसे दूर कर सकते हैं।

इस अज्ञान का स्वरूप क्या है? यह हमारे अहं-भाव में निवास करता है और इस विश्वास को जन्म देता है कि हम एक व्यक्ति (individual) हैं। अहंकार हमारी आँखों को मानो ढक लेता है और अज्ञान में रहने को बाध्य करता है। मनुष्य वस्तुतः आत्मा है। उसके मन, इन्द्रियाँ और शरीर है। जब वह अपनी आत्मस्वरूपता को भूल जाता है और अपने को शरीर, मन एवं इन्द्रियों के साथ एक समझता है, तब अहंभाव उत्पन्न होता है। इस अहभाव के जन्म के साथ मनुष्य अपना अतीन्द्रिय स्वरूप भूल जाता है, वह ऐन्द्रिक जगत् में रहने लगता है और कर्म तथा पुनर्जन्म के चक्कर में पड़ जाता है।

अपने अज्ञान के कारण हमें अपने भीतर विद्यमान प्रभु का बोध नहीं होता, परन्तु चूँकि हमारा वास्तविक स्वरूप दैवी है, हमें एक अभाव, एक रिक्तता का बोध होता रहता है। हमें कुछ पाने की इच्छा होती रहती है, भले ही हम यह नहीं जान पाते कि वह इच्छित वस्तु है क्या? हम ऐसे कुछ सुख की कामना करते हैं जो सदा बना रहेगा। इसीलिए जो भी हमें अच्छा और सुखदायी मालूम पड़ता है, उसके प्रति खिंचाव

और चाह का भाव बन जाता है तथा जो भी हमें दुःख-प्रद प्रतीत होता है उस सबसे विलगाव आ जाता है। हमारी समस्त कामनाओं के पीछे, यहाँ तक कि निम्नतम और गर्हित कामना के पीछे भी सच्चे और शुद्ध आनन्द को पाने की, मुक्ति और अमरत्व को प्राप्त करने की प्रेरणा बनी रहती है। यह प्रबल चाह ही, जो नहीं जानती कि उसका वास्तविक विषय क्या है, हमें सब प्रकार के कर्मों में लगाती है। हम अपनी अभीप्सित वस्तु को जानने के लिये हर तरह से प्रयत्न करते हैं, और ये कर्म, फलस्वरूप, हमें अपनी सीमा और बन्धन में बाँध लेते हैं। जैसा हम बोते हैं, वैसा काटते हैं। हम अनुभव रूपी वृक्ष के फलों को चखना प्रारम्भ कर देते हैं। हम इच्छा तो करते हैं कि केवल मधुर फलों को ही चखें, पर यह सम्भव नहीं हो पाता; क्योंकि कड़ुवे फल भी उसी वृक्ष पर लगते हैं और हम एक को छोड़कर दूसरे का ग्रहण नहीं कर सकते।

सुखप्रद के प्रति आसक्ति और दुःखप्रद के प्रति घृणा से अभिनिवेश (जीवन के प्रति ममत्व) पैदा होता है। अहंभाव इस अहंकारात्मक जीवन से चिपक जाता है और अपने अलग व्यक्तित्व की धारणा को बनाये रखना चाहता है। वह मरना नहीं चाहता। परन्तु यह अहंभाव जिस 'जीवन' से चिपककर रहना चाहता है वह वास्तव में मृत्यु है, क्योंकि वह तो भगवान् से, अपने सच्चे स्वरूप से विलग हो जाना है।

तभी तो ईसा मसीह ने कहा है, "जो इस जीवन को प्यार करता है वह इसे खो बैठता है।"

सच्चे जीवन को पाने के लिये--अपने यथार्थ स्वरूप के जीवन को प्राप्त करने के लिए हमें अहंभाव के परे जाना ही होगा। जब तक हम अपने आधार और अपनी प्रतिष्ठा उस ब्रह्म को नहीं जान लेते तब तक आनन्द का अनुभव हम कर ही नहीं सकते। इस ज्ञान में केवल अहंकार ही बाधक है। श्रीरामकृष्ण कहते थे --'मैं मरे कि जंजाल हटे'। ईसा मसीह ने कहा -- 'जब तक मनुष्य दुबारा जन्म नहीं ले लेता, वह ईश्वर के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता।' यह पुनर्जन्म, यह आत्मा में जन्म वास्तव में अहंकार की मृत्यु है। हिन्दुओं में एक उक्ति प्रचलित है --'जीते हुए मर जाओ'। अहंकार की मृत्यु की दृष्टि से मर जाओ और आत्मा में, इस शरीर में रहते हुए ही, फिर से जन्म ले लो।

अतएव, चाहे तुम हिन्दू हो या ईसाई अथवा बौद्ध, आध्यात्मिक जीवन की समस्या यही है कि इस अहंकार को कैसे समाप्त किया जाय। उपर्युक्त धर्मों में से हरएक इस प्रश्न का एक ही उत्तर देता है---शरणागत हो जाओ। अपने को ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण हृदय से समर्पित कर दो। ईश्वर को अपने समूचे अन्त:करण से प्यार करो। ईश्वर की चेतना में डूबकर अपने को भूल जाओ। इस शरणागति में अहंकार ही

एकमात्र बाधा है। महान् योगी पतंजलि इसकी तुलना जलाशय के तीर से करते हैं। तुम अपने खेतों में सिंचाई करना चाहते हो। जलाशय में प्रचुर जल है--आत्मा का प्राणवन्त जल है। केवल किनारे को तोड़ भर देना है कि पानी खेतों में अपने स्वभाव से बहने लगेगा। हममें से प्रत्येक के भीतर वह जलाशय है और वह ज्ञान, आनन्द एवं अमरत्व से जीवन को परिपूर्ण करने के लिये तैयार है, बस केवल अहंकार रूपी बाधा को तोड़ देने की जरूरत है।

ईश्वर को प्यार करना, उनके प्रति समर्पित हो जाना, इस अहंकार को खत्म कर देना--यह सब सुनने में तो बड़ा सरल है पर करने में सबसे कठिन है। इसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता होती है। हमें अनन्त धैर्य और अध्यवसाय के साथ अपनी साधनाओं में लगे रहना होता है। मन तो हरदम बाहर भागना चाहता है। बाहरी संसार में जहाँ उसे कोई सुखप्रद बात दिखी, वह तुरन्त उसी ओर दौड़ जाना चाहता है। फिर, यह अहंकार सतत अपने अस्तित्व की घोषणा करता रहता है। हम उसे दबाने की चाहे जितनी कोशिशें करें, वह मानो भिन्न भिन्न रूप धरकर सामने आता रहता है। अतः हमें अनवरत अपने प्रयत्न में लगे रहना पड़ता है।

हमें जिन साधनाओं का अभ्यास करना पड़ता है, वे हैं--विवेक और वैराग्य। हमें सतत, सारे जीवन

भर, यह विवेक करना पड़ता है कि नित्य क्या है और अनित्य क्या । अनन्त, अपरिणामी ईश्वर ही एकमात्र नित्य हैं; शेष सब कुछ अनित्य है, बाह्य जगत् के ये रूप और आकार सब अनित्य हैं । जैसे जैसे तुम विवेक के अभ्यास में दृढ़ होते हो, तुम्हारी धारणा हो जाती है कि ईश्वर हैं, और एकमात्र उन्हीं का अस्तित्व है । तत्पश्चात् तुम्हें अनुभव होने लगता है कि यदि ईश्वर हैं तो उनकी प्राप्ति भी अवश्य हो सकती है । बहुत से लोग सोचते हैं कि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं, और बस वहीं उनके विश्वास की इति हो जाती है । उनकी कल्पना होती है कि ईश्वर में मात्र विश्वास करने से ही हुआ । वे 'ईश्वर-भीरु' होना ही पर्याप्त मानते हैं । परन्तु अध्यात्म के महान् आचार्यों ने हमें बताया है कि केवल ईश्वर में विश्वास कर लेना ही धर्म नहीं है, बल्कि धर्म तो उससे बहुत कुछ अधिक है । धर्म यह विश्वास करना सिखाता है कि ईश्वर को वास्तव में प्राप्त किया जा सकता है । यह न हो, तो विवेक और वैराग्य का अभ्यास निरर्थक हो जाता है । मात्र इतना कह देने से कि हम ईश्वर में विश्वास करते हैं, हम जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख के अनुभवों से मुक्त नहीं हो सकते । ये तो उस सपने के प्रत्यक्ष और अपरोक्ष अनुभव हैं जिसे हम जीवन कहकर पुकारते हैं । हमें इस स्वप्न से जागना है और उस सत्य को जान लेना है जो स्वयं भी एक प्रत्यक्ष और अपरोक्ष अनुभूति है ।

इस धरती पर रहते हुए ही हमें इस सपने को तोड़ डालना है। ईश्वर के राज्य में प्रवेश करने के लिए हमें जीते हुए ही मर जाना है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण को हमें सैद्धान्तिक तर्कों में नहीं खोजना है, न ही उसे शास्त्रों में ढूँढ़ना है। यह ठीक है कि श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर को देखा, ईसा मसीह ने ईश्वर को देखा, पर वह हमारे अपने लिए कोई प्रमाण नहीं है। हमें अपने तईं ईश्वर को देखना चाहिए——बस यही एकमात्र प्रमाण होगा।

फिर यह भी समझ लेना है कि विवेक और वैराग्य की साधना का तात्पर्य जीवन के कर्मों को छोड़ देना नहीं है। उसका मतलब यह नहीं कि हम संसार से पलायन कर जायँ। असल में मन को ही नियंत्रित और प्रशिक्षित करना पड़ता है। हमें ईश्वर के लिए व्याकुलता लाने का अभ्यास करना चाहिए। हमें अपने मन को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि हम अपने जीवन के हर क्षण में अपने अहंकार को ईश्वर के चरणों में सौंप रहे हैं।

अब प्रश्न यह है कि ईश्वर के लिए यह प्रेम और व्याकुलता हम अपने मन में कैसे जगायें? बैठकर आँख मूँद लेने से और हृदय में ईश्वर का ध्यान करने मात्र से ईश्वर-प्रेम पैदा नहीं होगा। यह ईश्वर-प्रेम तो मन की एक बड़ी ऊँची अवस्था है। उसके अभ्यास का क्रम क्या हो? गीता हमें कर्मयोग की शिक्षा देती है।

कर्मयोग प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में हमें अपने कर्मों के माध्यम से ईश्वर के प्रति समर्पित होना सिखाता है। इस भाव को सिद्ध करने के भिन्न भिन्न तरीके हैं। उदाहरणार्थ, तुम अपने को मात्र एक मशीन या यंत्र मान सकते हो। इस मशीन का चलानेवाला या यंत्री कौन है? तुम्हारे भीतर का आत्मा। तुम्हें अहंभाव को भुलाने की कोशिश करनी होगी, यह सोचकर कि मशीन की अपनी कोई इच्छाशक्ति नहीं होती। या फिर तुम ऊपर बताये गये दो पक्षियों के दृष्टान्त को मन के सामने ला सकते हो। सोच सकते हो कि तुम गति और क्रिया से रहित निर्विकार और साक्षी आत्मा हो। इन्द्रियाँ अपने विषयों में जाती हैं, पर तुम समस्त क्रियाओं से मुक्त रहते हो। क्रिया के बीच तुम क्रियारहित होकर विद्यमान हो। अथवा, तुम अपने जीवन की हर क्रिया को ईश्वर के निमित्त आहुति बना सकते हो। जैसा भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से गीता में कहते हैं (९।२७)—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—अर्थात् "हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप का आचरण करता है, वह सब मुझे समर्पित कर दे।"

भगवान् आगे कहते हैं (९।२८)—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।

—"इस भाँति तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा लेगा । सब कुछ तू मुझे सौंप दे । तेरा अन्तःकरण इस प्रकार मुझसे युक्त हो जाने पर तू इसी जीवन में कर्मबन्धन से मुक्त होकर अन्त में मुझी को पा लेगा ।"

जब तुम किसी व्यक्ति के प्रेम में पड़ते हो, तो तुम्हारा मन सारे समय उसी व्यक्ति में पड़ा रहता है, चाहे तुम कुछ भी क्यों न करते होओ । हमें ईश्वर को इसी तरह प्यार करना चाहिए । हमें हर दिन एक नये ढंग से उनके प्रेम में पड़ना चाहिए । मानवी प्रेम क्षीण होकर नष्ट हो जाता है, पर ईश्वर का प्रेम सतत बढ़ता रहता है । तुम उससे थकते नहीं । वह नित-नूतन बना रहता है । उसकी तीव्रता बढ़ती रहती है । इस प्रेम को बढ़ाने के लिए हमें सतत ईश्वर-स्मरण बनाये रखने का अभ्यास करना चाहिए, और यह तभी सम्भव है जब हम नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करते हैं । ध्यान के बिना कर्मयोग का अभ्यास सध नहीं पाता । केवल एक 'भलामानुस' हो जाने से, नैतिक जीवन जीने से या निःस्वार्थ सेवा करने के प्रयास मात्र से तुम उस इन्द्रियातीत सत्य को नहीं पा सकते । ध्यान के द्वारा तुम्हें अपने भीतर निहित शक्ति को जगाना पड़ता है । तब तुम बाह्य जगत् में ईश्वर की लीला को देखने

में समर्थ होते हो। नैतिक जीवन और निःस्वाथ सेवा रास्ते के सहायक हैं, वे अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं। लक्ष्य तो है ईश्वर के साथ एक हो जाना। दिन का कुछ समय ईश्वर-चिन्तन के लिए अलग कर लो। उस समय अपने को पूरी तरह ईश्वर में डुबो देने का अभ्यास करो। उन्हें छोड़ और किसी का चिन्तन न करो। इससे अभ्यास कुछ सहज हो जायगा।

हम कहाँ पर ईश्वर का ध्यान करें? हमें ऐसे किसी बाहरी व्यक्ति से प्रार्थना नहीं करनी है जो आकाश में कहीं लटका होगा। ईश्वर सर्वव्यापी हैं। वे हमारे सबसे अधिक निकट हैं। वे हमारे भीतर हैं। हमें अपनी हृदयकन्दरा में उस दिव्य अस्तित्व का अनुभव करना है। अतएव अपने हृदय में प्रवेश करो और वहाँ विश्व के उस नियन्ता के समक्ष अपने आपको समर्पित कर दो, जिसके बिना न तो तुम साँस ले सकते थे, न क्रिया कर सकते थे, जिसके बिना न तो चेतना है, न किसी की सत्ता। अपने आपको उसके प्रति समूचे हृदय से समर्पित कर दो।

●

संसार का इतिहास बुद्ध और ईसा जैसे व्यक्तियों का इतिहास है। वासनामुक्त तथा अनासक्त व्यक्ति ही संसार का सर्वाधिक हित करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द

गीता प्रवचन-१०

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान ।)

राजा दुर्योधन पाण्डवों की सेना को व्यूहबद्ध देख आचार्य द्रोण के पास जा कहता है--

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।। ३ ।।

(आचार्य) हे गुरुदेव (तव) आपके (धीमता शिष्येण द्रुपद-पुत्रेण) बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र के द्वारा (व्यूढां) व्यूहबद्ध (पाण्डुपुत्राणां) पाण्डु-पुत्रों की (महतीं) महान् (चमूं) सेना को (पश्य) देखिये ।

" हे गुरुदेव ! आप अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूह में रची गयी पाण्डवों की विराट् सेना को देखिये ।"

हमने पिछले प्रवचन में कहा था कि पाण्डवों की व्यूहबद्ध सेना को देख दुर्योधन के मन में अज्ञात भय का संचार हो गया । उसका यह भय दूसरे श्लोक के 'तु' शब्द में तो प्रकट हुआ ही है, यहाँ भी 'महतीं चमूम्' कहने से उसका भय परिलक्षित होता है । वास्तव में सेना तो उसकी अपनी बड़ी है । कहाँ उसकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना और कहाँ पाण्डवों की सात ! तथापि भीतर का भय बाहर शब्दों में प्रकट हो ही जाता है । वह द्रोणाचार्य को धीरे से इस बात के लिए सावधान कर देना चाहता है कि पाण्डव कुछ समय

पूर्व तक भले ही दीर्घ तेरह वर्षों के लिए वनवासी रह चुके हैं, तथापि उनके मित्र कम नहीं और इस अल्प अवधि में ही उन्होंने इतनी बड़ी सेना इकट्ठी कर ली है।

दुर्योधन कहता है कि आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र ने पाण्डवों की व्यूहरचना की है। उसने धृष्टद्युम्न न कहकर द्रुपद-पुत्र कहा, धृष्टद्युम्न को आचार्य द्रोण का 'बुद्धिमान् शिष्य' कहा। इन सब बातों में दुर्योधन की चतुरता और कुटिलता दोनों ही परिलक्षित होती हैं। द्रुपद के प्रति द्रोण का पुराना बैर था। महाभारत में प्रसंग है कि द्रोण और द्रुपद एक ही गुरु––भरद्वाज––के पास शिक्षित हुए थे। द्रुपद तो राजा पृषत् के पुत्र थे, अतः पृषत् की मृत्यु के उपरान्त वे उत्तर-पांचाल देश की गद्दी पर बैठे। पर द्रोणाचार्य विद्यासम्पन्न होते हुए भी लक्ष्मी की कृपा से वंचित थे। उनकी निर्धनता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वे अपने इकलौते पुत्र अश्वत्थामा के लिए भी दूध का प्रबन्ध नहीं कर सके थे और दूध के लिए रोते बेटे के हाथ में दूध के मिस खड़िये का घोल देकर उसे चुप कराना चाहा था। पत्नी के बारम्बार आग्रह करने पर द्रोण सहायता की याचना लेकर अपने पुराने मित्र राजा द्रुपद के पास जाते हैं, पर द्रुपद अपने इस निर्धन मित्र को पहचानने से अस्वीकार कर देते हैं और द्रोण का अपमान करते

हैं। तब से द्रोण के हृदय में द्रुपद से बदला लेने की भावना उपजती है और वे कौरवों और पाण्डवों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देकर, गुरु-दक्षिणा के रूप में द्रुपद का राज्य माँगते हैं। द्रुपद युद्ध में पराजित होते हैं और बन्दी बनाकर द्रोण के सम्मुख लाये जाते हैं। द्रोण अब चाहें तो द्रुपद के साथ यथेच्छ व्यवहार कर सकते हैं, पर पुरानी मित्रता का निर्वाह करते हुए वे द्रुपद को आधा राज्य देकर विदा कर देते हैं।

अब द्रुपद के मन में प्रतिकार की भावना जगती है। वे ऐसी सन्तान की कामना करते हैं जो द्रोण का वध करे। अपमान के शोक से आतुर हो द्रुपद एक आश्रम से दूसरे आश्रम में किसी कर्मसिद्ध ब्राह्मण की खोज में भटकने लगे। अन्त में गंगातट पर कल्याणी नगरी में कश्यप-गोत्र के दो नैष्ठिक ब्राह्मण याज और उपयाज के सम्बन्ध में उन्होंने सुना। वे उपयाज के पास गये और उनको अपनी सेवा के द्वारा सन्तुष्ट कर उनसे प्रार्थना की, "महाभाग! आप कोई ऐसा कर्म कराइये, जिससे द्रोण को मारनेवाला पुत्र उत्पन्न हो। मैं दक्षिणा के रूप में आपको एक अर्बुद गायें दूँगा तथा आपकी अन्य इच्छाएँ भी पूर्ण कर दूँगा।" सुनकर उपयाज ने 'नाही' कर दी। द्रुपद ने हार न मानी। वे पुनः एक वर्ष तक निष्ठा से उपयाज की सेवा करते रहे। तब उपयाज ने कहा, "राजन्! तुम मेरे बड़े भाई याज के पास जाओ। उन्हें अर्थ की

आवश्यकता रहती है।" द्रुपद याज के पास गये और अपनी सेवा से उन्हें सन्तुष्ट कर यज्ञकार्य के लिये राजी कर लिया। याज की सम्मति से यज्ञकार्य सम्पन्न हुआ। अग्निकुण्ड से एक दिव्य कुमार प्रकट हुआ। तभी एक आकाशवाणी हुई—'इस पुत्र के जन्म से द्रुपद का सारा शोक मिट जायगा। यह कुमार द्रोण को मारने के लिये ही पैदा हुआ है।'

धृष्टद्युम्न के इस प्रकार से जन्म लेने की बात सर्वत्र फल चुकी थी। दुर्योधन इसीलिए धृष्टद्युम्न का नाम नहीं लेना चाहता, क्योंकि उसे चिन्ता है कि यदि द्रोणाचार्य को 'धृष्टद्युम्न' नाम सुनने से कहीं पिछली बातें स्मरण में आ जायँ, तो फिर वे भयभीत हो जायँगे। अतः चतुराई से 'धृष्टद्युम्न' शब्द का उच्चारण ही वह नहीं करता, बल्कि दूसरी ओर द्रुपद-पुत्र कहकर द्रुपद के प्रति आचार्य के वैर-भाव को जगा देना चाहता है। दुर्योधन का मन्तव्य यही है कि आचार्य द्रोण के मन में द्रुपद के प्रति रोष तो जागे, पर धृष्टद्युम्न की याद से उनमें भय न घुसे। इसीलिए वह द्रुपद-पुत्र के दो विशेषण लगाता है—'आपका बुद्धिमान् शिष्य'।

बुद्धिमान् शिष्य कहने का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जब आपका शिष्य इतना बुद्धिमान् है, तो फिर आपकी बुद्धिमत्ता का कहना ही क्या! पाण्डवों की व्यूहरचना तो आपके

शिष्य ने की है, अतएव उस व्यूह को छिन्न भिन्न करने में आपको कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि आपके शिष्य ने आप ही से तो सीखकर यह व्यूह रचा है ।

'बुद्धिमान्' शब्द से यह भी ध्वनित होता है कि देखिये, पाण्डवों की सेना असल में है तो छोटी, पर धृष्टद्युम्न की व्यूहरचना की कुशलता के कारण वह महती दिखायी दे रही है । यहाँ पर द्रोणाचार्य का उज्ज्वल चरित्र भी दर्शनीय है । राजा द्रुपद तो उनके वैरी ठहरे, पर वे द्रुपद के पुत्र को शिष्य के रूप में स्वीकार करते हैं और उसे निष्ठापूर्वक अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देते हैं । जो धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य को मारने के लिए पैदा हुआ, उसी को द्रोणाचार्य द्वारा शिष्यरूप से ग्रहण इतिहास में एक विरल घटना है ।

इसके पश्चात् दुर्योधन पाण्डवों की ओर के विशिष्ट योद्धाओं का वर्णन करता है । कहता है--

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

(अत्र) यहाँ (युधि) युद्ध में (महेष्वासा) महान् धनुर्धर (भीमार्जुनसमाः) भीम और अर्जुन के समान (शूराः) शूरवीर

(महारथः) महारथी (युयुधानः) युयुधान (च) और (विराटः) विराट (च) और (द्रुपदः) द्रुपद (धृष्टकेतुः) धृष्टकेतु (चेकितानः) चेकितान (च) और (वीर्यवान्) बलवान् (काशिराजः) काशीनरेश (पुरुजित्) पुरुजित् (च) और (कुन्तिभोजः) कुन्तिभोज (च) और (नरपुंगवः) नरश्रेष्ठ (शैब्यः) शैब्य (च) और (विक्रान्तः) विक्रमी (युधामन्युः) युधामन्यु (च) और (वीर्यवान्) बलवान् (उत्तमौजाः) उत्तमौजा (सौभद्रः) सुभद्रा का पुत्र (च) और (द्रौपदेयाः) द्रौपदी के पुत्र (सर्वे) सभी (एव) ही (महारथाः) महारथी।

"इस सेना में युद्ध करने में भीम और अर्जुन के समान बड़े बड़े धनुर्धारी योद्धा हैं; युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद जैसे शूरवीर हैं; (फिर) धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान् पुरुजित्, कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सब के सब महारथी हैं।"

यहाँ 'शूरा महेष्वासा महारथाः' ये तीन विशेषण सभी योद्धाओं के लिए समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही साथ कुछ योद्धाओं की अलग से विशेषता बतायी गयी है। दुर्योधन इन विशेषणों के द्वारा आचार्य द्रोण पर यह प्रभाव डालना चाहता है कि पाण्डवों की सेना को हमारे सैन्य से किसी भाँति कम शक्तिशाली न समझा जाय।

दुर्योधन कहता है–– 'भीम और अर्जुन के समान'। इससे ध्वनित होता है कि वह भीम और अर्जुन को महान् बलशाली समझता था तथा पाण्डवों की ओर

इन्हीं दोनों को प्रमुख योद्धा मानता था। भीम के जन्म के समय आकाशवाणी हुई थी कि यह कुमार समस्त बलवानों में श्रेष्ठ है। जन्म के दसवें दिन ये माता की गोद से एक शिलाखण्ड पर गिर पड़े और इनके शरीर की चोट से वह शिला चूर-चूर हो गयी। फिर कौरवों की सभा में जब द्रौपदी का अपमान हुआ तो भीमसेन ने ही दुःशासन की छाती फाड़कर उसका रक्त पीने की भीषण प्रतिज्ञा की थी तथा दुर्योधन की जाँघ तोड़ देने की भी भयंकर घोषणा की थी। इसीलिए दुर्योधन भीम से भीतर ही भीतर बहुत डरता था। अर्जुन तो महान् पराक्रमी थे ही। अकेले ही इन्होंने मंत्रियों सहित द्रुपद को पराजित किया था और उन्हें बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य को सौंपा था, जबकि दुर्योधन समेत सारे कौरव द्रुपद से हारकर भाग निकले थे। उसी प्रकार जब पाण्डवों के अज्ञातवास के समय कौरवों ने विराट-नगर पर धावा किया तो अकेले अर्जुन ने ही कौरव सेना का संहार कर उसे खदेड़ दिया। दुर्योधन यह सब भलीभाँति जानता था, क्योंकि वह भुक्तभोगी था। इसीलिए उसके मुख से 'भीमार्जुनसमाः' शब्द निकलता है। भीम और अर्जुम उसकी आँखों के सामने काल के समान नाचते रहते हैं।

महाभारत में वीरों की चार श्रेणियाँ बतायी गयी हैं——अतिरथी, महारथी, रथी और अर्धरथी। कुछ लोगों के अनुसार अतिरथी और महारथी पर्यायवाची शब्द हैं

और एक ही अर्थ की अभिव्यंजना करते हैं। 'महारथी' उसे कहा गया है जो अकेले ही दस हजार धनुर्धारी योद्धाओं से लड़ने की क्षमता रखता है। 'अतिरथी' वह है जो दस हजार से भी अधिक योद्धाओं से अकेले मुठभेड़ ले सकता है। 'रथी' वह है जो एक हजार योद्धाओं से अकेले लड़ ले। 'अर्धरथी' की श्रेणी इससे भी नीचे है।

युयुधान का दूसरा नाम सात्यकि है। ये वृष्णिवंशी शिनिकुमार सत्यक के पुत्र हैं। श्रीकृष्ण के मतानुसार सात्यकि एक अतिरथी वीर हैं। भीष्म उन्हें रथयूथपों का यूथप मानते हैं और बड़ा ही असहनशील तथा निर्भीक समझते हैं। वे एक अक्षौहिणी सेना लेकर युधिष्ठिर के पास आये थे।

विराट मत्स्यदेश के राजा है और उत्तरा के पिता हैं। ये शंख और उत्तम नामक अपने पुत्रों तथा सूर्यदत्त और मदिराक्ष इत्यादि वीरों के साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर महाभारत युद्ध के लिए आये थे। भीष्म के मतानुसार ये बूढ़े होने पर भी युद्ध में अजेय थे तथा बड़े पराक्रमी और एक महारथी थे।

द्रुपद पांचाल देश के राजा है। इन्हें गीता में ही महारथी का विशेषण दिया गया है। ये अपने दस पुत्र सत्यजित् और धृष्टद्युम्न आदि के सहित एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये थे। ये यद्यपि वृद्ध हो चले हैं तथापि भीष्म इन्हें भी युद्ध में अजेय मानते हैं और महान्

पराक्रमी तथा महारथी की संज्ञा देते हैं ।

धृष्टकेतु शिशुपाल के पुत्र हैं और चेदि देश के राजा । भीष्म के मतानुसार ये बड़े ही वीर और धनुर्धर हैं एवं एक महारथी हैं । ये भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध में आये थे ।

चेकितान अन्धकवंशीय यादव हैं तथा संजय की दृष्टि से एक महारथी हैं । भीष्म इन्हें बड़े अच्छे रथी मानते हैं । ये भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर युधिष्ठिर के पास आये थे ।

काशिराज भीमसेन के श्वसुर थे । इन्हें गीता में वीर्यवान् का विशेषण दिया गया है । संजय के मतानुसार ये एक महारथी हैं । भीष्म इन्हें 'शस्त्र चलाने में बड़ा फुर्तीला और शत्रुओं का संहार करनेवाला' मानते हैं तथा इन्हें साधारण अवस्था में एक रथी की संज्ञा देते हैं, किन्तु यह भी कहते हैं कि युद्ध में पराक्रम करते समय ये आठ रथियों के बराबर हो जाते हैं ।

पुरुजित् और कुन्तिभोज ये दोनों सगे भाई हैं और राजा कुन्तिभोज के पुत्र हैं । कुछ व्याख्याकार 'पुरुजित् कुन्तिभोज' को एक ही व्यक्ति का नाम मानते हैं । पर महाभारत में हमें पुरुजित् और कुन्तिभोज दोनों के अलग अलग विवरण प्राप्त होते हैं । कुन्ती इन दोनों के पिता राजा कुन्तिभोज द्वारा दत्तक ली गयी थीं, अतएव वे इन दोनों की बहिन हुईं और ये दोनों पाण्डवों के मामा हुए । कुन्ती यदुवंशी शूरसेन की पुत्री थीं ।

तब इनका नाम पृथा था । वसुदेव शूरसेन के पुत्र और पृथा के भाई थे । राजा कुन्तिभोज शूरसेन की बुआ के पुत्र थे । वे सन्तानहीन थे, इसलिए शूरसेन ने पृथा को राजा कुंन्तिभोज को गोद दे दिया था । तब से पृथा कुन्ती के नाम से परिचित हुईं ।

पुरुजित् भीष्म पितामह की दृष्टि में महाधनुर्धर और अत्यन्त बलवान् थे । वे पुरुजित् को एक अतिरथी मानते थे । भीष्म ने पुरुजित् के अन्य जो विशेषण लगाये वे हैं–– 'वीर', 'महेष्वास', 'कृती', 'निपुण', 'चित्रयोधी', 'शक्र' तथा 'रथपुंगव'। पुरुजित् के भाई कुन्तिभोज भी अच्छे योद्धा थे । इन्होंने पाण्डवों की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों में खड़े होकर युद्ध किया था । ये द्रोणाचार्य के हाथों मारे गये थे ।

शैब्य शिबि देश के नरेश हैं और युधिष्ठिर के श्वसुर हैं । दुर्योधन ने इनकी गणना पाण्डव-सेना के महान् धनुर्धरों में की थी । गीता में इन्हें 'नरश्रेष्ठ' का विशेषण दिया गया है ।

युधामन्यु और उत्तमौजा पांचाल देश के राजकुमार थे तथा क्रमशः अर्जुन के बाँयें और दाहिने चक्ररक्षक थे । भीष्म उत्तमौजा को अच्छा रथी और युधामन्यु को उत्तम रथी मानते हैं । गीता में युधामन्यु और उत्तमौजा के लिए क्रमशः 'विक्रान्त' और 'वीर्यवान्' का विशेष विशेषण लगाया गया है ।

सौभद्र अर्जुन और सुभद्रा के पुत्र हैं । ये अभिमन्यु

के नाम से परिचित हैं। भीष्म पितामह इन्हें रथयूथपों के यूथों का भी अध्यक्ष मानते हैं तथा युद्ध में इन्हें अर्जुन और श्रीकृष्ण की बराबरी का समझते हैं। संजय की दृष्टि में अभिमन्यु वीरता में श्रीकृष्ण के समान तथा संयम में महाराज युधिष्ठिर के समान हैं।

द्रौपदी के प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक तथा श्रुतसेन ये पाँचों पुत्र भीष्म की दृष्टि में महारथी हैं।

इस प्रकार पाण्डवों की ओर के विशिष्ट योद्धाओं के नाम गिनाकर दुर्योधन अपनी ओर के वीरों की सूची प्रस्तुत करते हुए कहता है——

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

(द्विजोत्तम) हे द्विजश्रेष्ठ (अस्माकं) हमारे (तु) भी (ये) जो (विशिष्टः) विशेष (मम) मेरी (सैन्यस्य) सेना के (नायकाः) नायक हैं (तान्) उन्हें (निबोध) जानिये (ते) आपकी (संज्ञार्थं) जानकारी के लिए (तान्) उन्हें (ब्रवीमि) बतलाता हूँ।

"हे द्विजश्रेष्ठ ! हमारे पक्ष के भी जो प्रधान हैं उन्हें आप समझ लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मैं उनके नाम बतलाता हूँ जो कि मेरी सेना के नेता हैं।"

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

(भवान्) आप (च) और (भीष्मः) भीष्म (च) और (कर्णः) कर्ण (समितिंजयः कृपः) रणविजयी कृपाचार्य (च) और (तथा एव) उसी प्रकार (अश्वत्थामा) अश्वत्थामा (च)

और (विकर्णः) विकर्ण (सौमदत्तिः) सोमदत्ततनय भूरिश्रवा ।

"आप, पितामह भीष्म, कर्ण और रणविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा ।"

दुर्योधन की चाटुकारिता दर्शनीय है । वह भीष्म के भी पहले द्रोणाचार्य का नाम लेता है । भीष्म कौरवों के सेनापति हैं, सभी प्रकार से श्रेष्ठ हैं, अतएव सर्वप्रथम उन्हीं का नाम लिया जाना उचित है, पर द्रोणाचार्य को सर्वाधिक सम्मान द्वारा प्रसन्न करने के लिए दुर्योधन उन्हीं को अपनी सूची में सर्वप्रथम रखता है ।

भीष्म के पश्चात् एवं कृपाचार्य के पहले कर्ण का नाम गिनाकर दुर्योधन ने कर्ण की प्रसन्नता प्राप्त कर ली । किन्तु कृपाचार्य का नाम कर्ण के बाद लेने से कहीं कृपाचार्य और आचार्य द्रोण असन्तुष्ट न हो जायँ इसलिए वह कृपाचार्य नाम के साथ 'समितिंजयः' विशेषण लगा देता है । इससे सभी की सन्तुष्टि हो जाती है । स्मरणीय है कि द्रोणाचार्य का विवाह कृपाचार्य की बहिन कृपी से हुआ था ।

द्रोणाचार्य को भीष्मपितामह रथयूथपतियों के समुदाय के भी यूथपति मानते हैं । बूढ़े होने पर भी उन्हें नवयुवकों से अच्छा समझते हैं और कहते हैं कि वे रणभूमि में एकत्र एवं एकीभूत हुए सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्यों को अपने दिव्यास्त्रों द्वारा नष्ट कर सकते हैं । पर द्रोणाचार्य की एक बड़ी दुर्बलता है और वह है अपने पुत्र अश्वत्थामा के प्रति प्रबल

आसक्ति । यह आसक्ति ही उनका काल बनती है ।

पितामह भीष्म का बल तो सर्वविदित है ही । उन्होंने अपने गुरु, महापराक्रमी परशुराम को युद्ध में पराजित किया था । काशिराज के यहाँ स्वयंवर से उनकी कन्याओं का जब उन्होंने अपहरण किया था तो अकेले ही हजारों पराक्रमी नरेशों के उन्होंने छक्के छड़ा दिये थे ।

कर्ण वैसे तो बड़े वीर हैं पर कतिपय आनुषंगिक दोषों के कारण उन्हें कई लोग नहीं चाहते । भीष्म-पितामह कर्ण से चिढ़े हुए हैं और उनके सम्बन्ध में मत प्रकट करते हुए दुर्योधन से कहते हैं— "राजन् ! यह जो तुम्हारा प्रिय सखा कर्ण है, जो तुम्हें पाण्डवों के साथ युद्ध के लिए सदा उत्साहित करता रहता है और रणक्षेत्र में सदा अपनी क्रूरता का परिचय देता है, बड़ा ही कटुभाषी, आत्मप्रशंसी और नीच है । यह कर्ण तुम्हारा मंत्री, नेता और बन्धु बना हुआ है । यह अभि-मानी तो है ही, तुम्हारा आश्रय पाकर बहुत ऊँचे चढ़ गया है । यह कर्ण युद्धभूमि में न तो अतिरथी है और न रथी ही कहलाने योग्य है, क्योंकि यह मूर्ख अपने सहज कवच तथा दिव्य कुण्डलों से हीन हो चुका है । यह दूसरों के प्रति सदा घृणा का भाव रखता है । . . . मेरी दृष्टि में यह कर्ण तो अर्धरथी है ।"

यह सुनकर आचार्य द्रोण भी कह उठते हैं— "आप जैसा कहते हैं, बिल्कुल ठीक है ! आपका यह मत कदापि मिथ्या नहीं है । यह प्रत्येक युद्ध में घमण्ड

तो बहुत दिखाता है, पर वहाँ से भागता ही देखा जाता है। कर्ण दयालु और प्रमादी है, इसलिए मेरी राय में भी यह अर्धरथी ही है।"

कृपाचार्य को भीष्म रथयूथपतियों के भी यूथपति मानते हैं तथा कार्तिकेय की भाँति उन्हें अजेय समझते हैं।

अश्वत्थामा द्रोणाचार्य के पुत्र हैं। दुर्योधन नवयुवकों में सर्वप्रथम स्थान इन्हीं को देता है और इस प्रकार द्रोण का स्नेह अपनी ओर खींचता है। पितामह भीष्म अश्वत्थामा की प्रशंसा तो करते हैं पर उनका एक बड़ा दोष भी बताते हैं। वे कहते हैं––"महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरों से बढ़कर है। वह युद्ध में विचित्र ढंग से शत्रुओं का सामना करनेवाला, सुदृढ़ अस्त्रों से सम्पन्न तथा महारथी है . . .। वह चाहे तो तीनों लोकों को दग्ध कर सकता है . . .। किन्तु उसमें एक ही बहुत बड़ा दोष है, जिससे मैं इसे न तो अतिरथी मानता हूँ और न रथी ही। इस ब्राह्मण को अपना जीवन बहुत प्रिय है, अतः यह सदा दीर्घायु बना रहना चाहता है (यही इसका दोष है)।"

विकर्ण धृतराष्ट्र के पुत्र हैं। धृतराष्ट्र के ग्यारह महारथी पुत्रों में इन्हें भी एक गिना जाता है। कुरुवंशीय सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा भीष्म की दृष्टि में महाधनुर्धर और अस्त्र-विद्या के पण्डित हैं तथा रथियों के यूथपतियों के भी यूथपति हैं। ये एक अक्षौहिणी सेना लेकर

दुर्योधन की सहायता में आये थे ।

किसी किसी गीता की प्रति में 'तथैव च' के बदले' 'जयद्रथः' पाठ आया है । जयद्रथ सिन्धुदेश का राजा है और दुर्योधन की बहिन दुःशला का पति है । भीष्म-पितामह इसे बड़ा पराक्रमी तथा रथी योद्धाओं में श्रेष्ठ कहते हैं । साथ ही इसे दो रथियों के बराबर भी मानते हैं ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। ९ ।।

(मदर्थे) मेरे लिए (त्यक्तजीविताः) अपने प्राणों को त्याग देने वाले (नानाशस्त्रप्रहरणाः) नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाले (सर्वे) सभी (युद्धविशारदाः) युद्धविद्या में निपुण (अन्ये च) दूसरे और भी बहवः) अनेकों (शूराः) शूरवीर ।

"इनके सिवा अन्य भी बहुत से शूरवीर हैं जिन्होंने मेरे लिए अपने प्राणों को त्याग दिया है । ये सभी नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाले तथा युद्धविद्या में निपुण हैं ।"

दुर्योधन का भाव यह है कि अब और कहाँ तक गिनाऊँ, अन्य बहुत से शूरवीर योद्धा हैं जो मेरे लिए प्राणों का मोह छोड़े बैठे हैं । इससे ध्वनित होता है कि आचार्य द्रोण भी दुर्योधन के लिए उसी प्रकार अपने प्राणों की बाजी लगा दें । दुर्योधन अपनी तरफ के थोड़े से ही योद्धाओं के नाम गिनाता है, जिससे द्रोणाचार्य को उसके प्रति सहानुभूति हो । कहाँ पाण्डवों की ओर एक से एक बढ़कर योद्धा और कहाँ दुर्योधन की

ओर इतने कम लोग ! इस मनोवैज्ञानिक चित्रण द्वारा दुर्योधन अपनी ओर आचार्य द्रोण की सहानुभूति खींचना चाहता है । तात्पर्य यह है कि भले ही कौरवों की ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेना हो, पर विशिष्ट वीर तो संख्या में पाण्डव सैन्य की तुलना में कम हैं । फिर दुर्योधन के मन में तुरन्त यह भी आशंका होती है कि कहीं उपर्युक्त उक्ति को आचार्य द्रोण उसके मानसिक भय का बहिःप्रकाश न समझ लें । अतएव वह कहता है--
"गुरुदेव ! और भी बहुत से शूरवीर हैं जो मेरे लिए प्राण त्यागकर बैठे हैं !"

और विधि की विडम्बना कैसी है ! दुर्योधन की बात सत्य होती है । अपनी ओर के सेनानायकों के लिए 'त्यक्तजीविताः' कहकर उसने सबके नाश की ही मानो पूर्व सूचना दे दी !

(क्रमशः)

•

लोग तुम्हारी स्तुति करें या निन्दा, लक्ष्मी तुम्हारे ऊपर कृपावती हों या न हों, तुम्हारा देहान्त आज हो या युग भर बाद, तुम न्यायपथ से कभी भ्रष्ट न हो । कितने ही तूफान पार करने पर मनुष्य शान्ति के राज्य में पहुँचता है । जो जितना बड़ा हुआ है, उसके लिए उतनी ही कठिन परीक्षा रखी गयी है ।

स्वामी विवेकानन्द

मानस-पीयूष—२

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(गतांक से आगे)

(पं रामकिंकरजी उपाध्याय भारत के सुप्रसिद्ध रामायणी हैं। आश्रम के प्रांगण में रामचरितमानस पर उनके कई प्रवचन हो चुके हैं। उन्होंने अपना प्रथम प्रवचन ४ अक्तूबर, १९६६ को दिया था। उसी प्रवचन की दूसरी किश्त हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। —– सं.)

भगवान् राम ने जिनके यहाँ जन्म लिया वे थे महाराज 'दशरथ' और जिसका वध किया वह था 'दशमुख'। 'दश' तो दोनों में समान है। अन्तर केवल दश के बाद के शब्द में है। एक जगह 'रथ' है तो दूसरी जगह 'मुख'। रथ और मुख के बीच का अन्तर ही भगवान् के भक्त और उनके विरोधी के बीच का अन्तर है। रथ वह है जिस पर बैठकर गन्तव्य को जाया जाता है और मुख वह है जिसके द्वारा हम और आप भोजन का स्वाद लेते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये दस सबके पास बराबर बराबर हैं। अगर आप समझते हैं कि यह शरीर और दस इन्द्रियाँ आपको किसी महान् वस्तु की प्राप्ति के लिए मिली है तो आप महाराज दशरथ के भक्त हैं, आप भगवान् राम के समीप हैं। किन्तु यदि आपको ऐसा प्रतीत हो कि दस इन्द्रियों की प्राप्ति केवल खाने-पीने और मौज

करने के लिए हुई है, विषय-रस का भोग करने के लिए हुई है, तो आप दशमुख के अनुयायी हैं। गोस्वामीजी ने इस पर एक व्यंग्यात्मक गाथा कही है। अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में वे लिखते हैं––

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा।
बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा ।।

महाराज दशरथ ने दर्पण लेकर अपना मुख देखा। रावण के जीवन में कभी यह प्रसंग नहीं आता कि उसने कभी दर्पण देखा अथवा यह कि उसकी लंका में कहीं दर्पण था। इससे हम यह न सोच लें कि रामायण का अन्तरंग अर्थ केवल शीशा देखने अथवा न देखने में है अथवा यह सिद्ध करने में कि लंका में शीशा था ही नहीं। वहाँ शीशा था, पर वहाँ के लोग शीशा नहीं देखते थे। उन्हें शीशा देखना अच्छा नहीं लगता था। महाराज दशरथ शीशा देखते हैं, पर रावण नहीं देखता। इसका तात्पर्य क्या? रावण और कुम्भकर्ण पूर्व जन्म में रुद्रगण थे। नारदजी के शाप के फलस्वरूप वे रावण और कुम्भकर्ण बने। नारदजी ने उन्हें शाप इसलिए दिया कि उन्होंने नारदजी को दर्पण में अपना मुख देखने की सलाह दी। जो स्वयं शीशे में अपना मुख देखे वह है दशरथ का अनुयायी, पर जो स्वयं तो शीशा देखे नहीं वरन् दूसरों को दिखलाता फिरे वह हुआ दशमुख का अनुयायी। दर्पण देखने का तात्पर्य यह है कि वह हमारी कमी बतलाता है। आप दर्पण के सामने बैठ

जाइये। बाल बिखरे हुए हों, चेहरे में कहीं मलिनता हो, वस्त्रों में गन्दगी हो, दर्पण तुरन्त बतला देगा कि दोष कहाँ पर है। यही बात जो दर्पण आपको एकान्त में बतलाता है, कोई व्यक्ति अगर राह चलते सड़क पर बतला दे और कह दे कि आपकी शक्ल तो ऐसी है, तो आप गुस्से में पागल हो जायेंगे, उससे लड़ पड़ेंगे। पर जब दर्पण यह दोष दिखलाता है तब उस पर हम क्रोध नहीं करते। उसे पटक नहीं देते। उससे प्रेम करते हैं। प्रत्येक घर में दर्पण प्यारा है। दरिद्र से दरिद्र के घर भी एक छोटा सा दर्पण अवश्य होगा। अमीर के घर बड़ा दर्पण होगा। असल बात यह है कि जो चौराहे पर हमारा दोष बतलाता है, वह हमको दूसरों की दृष्टि में गिराना चाहता है। पर दर्पण मित्र है, यह अकेले ही में हमको धीरे से बतला देता है कि साहब, बाहर निकलने के पहले जरा ठीक से होकर जाना; ऐसे ही चले जाओगे तो लोग न जाने क्या समझेंगे। यह हमारा सखा है। हमारी कमी बतलाता है। इसलिए बतलाता है कि हम उस कमी को दूर करके बाहर जायें ताकि हमें समाज में अनादृत न होना पड़े। पर दर्पण की आवश्यकता केवल शरीर के ही लिए नहीं है, मन के लिए भी है। बल्कि मन की कमियों को दूर करने के लिए यह तो और भी अधिक आवश्यक है। पर यह मन का दर्पण क्या है? महाराज दशरथ ने दर्पण में अपना मुख देखा। मुख तो हम और आप भी

देखते हैं। पर हमें वह बात कहाँ दिखाई पड़ती है जो दर्पण में महाराज दशरथ को दिखाई पड़ी। गोस्वामीजी लिखते हैं—

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा।
बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥
श्रवण समीप भये सित केसा।

महाराज दशरथ ने देखा कि कानों के पास के केश श्वेत हो चले हैं। इतना तो सबको दिखाई दिया, पर महाराज दशरथ को जो आगे दिखाई पड़ा उससे प्रतीत होता है कि वे दर्पण को जरा गहराई से देखना जानते थे। उन्होंने देखा—

श्रवण समीप भये सित केसा।
मनहु जरठपन अस उपदेशा॥
नृप जुवराज राम कँह देहू।
जीवन जनम लाहु किन लेहू॥

कानों के पास के श्वेत केशों को देखकर महाराज दशरथ को लगा कि ये श्वेत केश हमें कुछ सन्देसा देने आये हैं। अगर बाल काले होते तो भले ही उन पर भरोसा न करते। क्या पता सही कहें या नहीं। पर सफेद हैं, सत्-युक्त हैं, सत्य ही कहेंगे इसलिए इस पर विश्वास करना ही पड़ेगा। वे केश कह रहे थे कि महाराज दशरथ! आप मुकुट को क्यों सीधा कर रहे हैं? अब आप इसे उतारिये और यह भार अब आप राघवेन्द्र के सिर पर अर्पित कर दीजिए! यही है जीवन

का आत्मनिरीक्षण, जो दर्पण देखने के बाद उन्हें प्रेरणा देता है। सत्ता का त्याग कीजिए, अधिकार को त्यागिये और भगवान् राम के प्रति जीवन में समर्पण ले आइये। यही है मन का दर्पण देखना।

एक दूसरा प्रसंग है। रामचरितमानस में कथा आती है कि नारदजी विश्वमोहिनी को देखकर उससे विवाह करने को आतुर हो उठते हैं। भगवान् के पास जाते हैं और उनसे सौन्दर्य की याचना करते हैं। भगवान् तो नारद को बहुत चाहते हैं। वे देखते हैं कि नारद में अनेक दोष आ गये। ऐसा कोई दोष नहीं जिससे वे बच पाये हों। अच्छाई और बुराई में एक बहुत बड़ा भेद है। देवता और दैत्य में भी यही अन्तर है। देवताओं में संगठन का बड़ा अभाव है। दैत्यों में संगठन की बड़ी शक्ति है। एक देवता आता है तो दूसरा आना नहीं चाहता। पर अगर एक दैत्य आ जाय तो दूसरे दैत्य को बुलाये बिना नहीं रहता। यह जीवन का एक सत्य है। एक सद्गुण ले आइये तो दूसरा नहीं आयेगा। पर एक दुर्गुण ले आइये, वह सारे दुर्गुणों को बुला लेगा। आपने निर्णय किया कि आज से सत्यदेव को जीवन में स्थान देंगे। सत्यदेवता ज्योंही आयेंगे, शील देवता आपको नमस्कार करके चले जायेंगे। सच बोलनेवाला इतना कड़ुवा बोलेगा कि लोग कहेंगे यह दूर ही रहे तो अच्छा। सत्य आया तो शील चला गया। अब निर्णय कर लीजिए कि आज से शील देवता

की आराधना करेंगे। सबसे मधुर व्यवहार रखेंगे। सबसे मीठी वाणी बोलेंगे। तब सत्यदेवता विदा हो जायेंगे। अब आप दिन-रात झूठ बोलकर लोगों की हाँ में हाँ मिलाइये। उनको प्रसन्न करिये। पर सत्य से नाता टूट जायेगा। सद्‌गुणों की यही समस्या है कि एक आता है तो दूसरा चला जाता है। और दुर्गुण की विलक्षणता यह है कि जब वे आते हैं तो अकेले नहीं आते, सबको बुला लाते हैं। गीता में इनके क्रम का प्रतिपादन किया गया है——

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।

——अर्थात्, पहले विषयों का ध्यान होता है। ध्यान से मोह उत्पन्न होता है। मोह से पाने की कामना जाग उठती है। कामना-पूर्ति में विघ्न होने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध सम्मोह को जन्म देता है। सम्मोह से स्मृति विभ्रमित हो जाती है। स्मृति के नाश से बुद्धि जड़ता को प्राप्त होती है और बुद्धि के नाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

ये दुर्गुण मनुष्य को अन्तिम सीमा तक पहुँचाये बिना नहीं छोड़ते। नारदजी में सब दुर्गुण आ गये। उन्होंने काम के आक्रमण को विफल किया था। काम ने उनसे क्षमा माँगी और प्रणाम करके चला गया।

अब एकान्त में नारदजी अपने इस कार्य का मूल्यांकन करने लगे। सोचने लगे, मैंने जिस प्रकार काम पर विजय पायी वह संसार में अद्वितीय है। सृष्टि के आदि से अब तक किसी ने ऐसा महान् कार्य नहीं किया। प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भगवान् शंकर का नाम उनके मस्तिष्क में आया। पर दूसरे ही क्षण विचारों ने पलटा खाया। नहीं! नहीं! शंकर मेरी बराबरी कैसे कर सकते हैं। भले ही उन्होंने काम को जीता, पर उन्हें तो क्रोध आ गया था। क्रोध में उन्होंने काम को भस्म कर डाला था। मैंने तो काम को बिना क्रोध लाये परास्त किया। काम और क्रोध दोनों को मैंने जीता है। शंकर मेरी बराबरी कैसे कर सकते हैं? अहंकार हँसने लगा। उसने कहा, कोई बात नहीं आपने काम को हराया होगा। पर जब आपने हमें बुलाया है, तो हम तो अकेले आते नहीं। हम सबको बुला लेंगे, क्योंकि हम सब साथ ही रहा करते हैं। और फिर नारदजी के जीवन में क्या नहीं आया! संगात् संजायते कामः। ऐसा काम आया कि व्याकुल हो उठे। विश्वमोहिनी को देखते ही बेचैन हो उठे। जब उसका हाथ पढ़ने लगे, तब मोह का ऐसा वेग कि हस्तरेखा पढ़ते न बने। किसी तरह उसका हाथ देखा तो मालूम हुआ—

जो येहि बरइ अमर सोइ होई।
समर भूमि तेहि जीत न कोई।।

—जो इस कन्या से विवाह करेगा वह अमर होगा

तथा उसे संसार में कोई जीत नहीं पायेगा। पर हस्तरेखा में ऐसी बात नहीं थी। उसमें तो यह था—'समरभूमि तेहि जीत न कोई, अमर होइ जो सो येहि बरई।' यानी जो संसार में किसी से न हारे और अमर हो, वही इसका पति होगा। यह बात नहीं कि ये गुण विवाह के बाद आ जायेंगे। पहले मरणधर्मा हो और विवाह के बाद अमर हो जाय, ऐसा तो हस्तरेखा में कहीं नहीं रहता। अगर अमर होगा तो पहले से ही होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जो अमर हो तथा जिसमें ये विशिष्ट गुण हों, वही इस कन्या का स्वामी होगा। ये सारे गुण तो भगवान् के हैं। पर नारद को लगा कि अगर मेरा विवाह इस कन्या से हो जाय तो मुझमें ये सारे गुण आ जायेंगे। व्याकुलता इतनी बढ़ी कि डरने लगे, विलम्ब होने से कोई दूसरा उसे विवाह करके न ले जाय।

जप तप कछु न होई तेहि काला।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥

—काम आया। कामात् क्रोधोऽभिजायते। काम के बाद क्रोध आया। ऐसा क्रोध आया कि रोक पाना मुश्किल। शंकरजी को तो भला काम पर क्रोध आया था। पर इनको क्रोध आया किन पर?—

फटकत अधर कोप मन माहीं।
सपदि चले कमलापति पाहीं॥

—इनको भगवान् पर क्रोध आया। काम पर क्रोध

आया शंकर जी को और राम पर क्रोध आया नारद को। बुराई पर भले क्रोध कर लीजिए, पर अच्छाई पर तो न कीजिए। और जो व्यक्ति बुराई पर क्रोध नहीं करता, वह अच्छाई पर जरूर करेगा। गुस्से से फड़कते हुए वे भगवान् विष्णु के पास पहुँचे और मन में निर्णय किया--

दइहौं शाप कि मरिहौं जाई।
जगत मोर उपहास कराई।।

ऐसा क्रोध! और मोह कैसा?--

मुनि अति विकल मोह मति नाठी।
मनि गिर गई छूटि जनु गाठी।।

स्मृतिविभ्रम तो इतना कि भगवान् से कहते हैं-- सुन्दरता दे दीजिए। भगवान् साफ कहते हैं--

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी।
बैद न देय सुनहु मुनि जोगी।।

और बुद्धिनाश कैसा? दोनों रुद्रगण बगल में हँसी उड़ा रहे हैं, पर--

जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी।
समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी।।

इस प्रकार गीता का सारा क्रम आ गया। मानस का भी सारा क्रम आ गया। केवल एक बात बाकी रह गयी। गीता में आया-- 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।' बुद्धिनाश के बाद सर्वनाश। नारद का सर्वनाश नहीं हो पाया। यह एक विचित्र बात है। प्रतापभानु में केवल

एक अवगुण——लोभ——आया और उसका सर्वनाश हो गया। पर नारदजी में सब अवगुण आने के बाद भी उनका विनाश नहीं हुआ। एक वस्तु थी जिसने उनकी रक्षा की। जब उनको विवाह की इच्छा हुई तो सोचने लगे कि किससे सहायता लें। उनके मन में एक बात उठी——

मोरे हित हरि सम नहिं कोई।
येहि अवसर सहाय सोई होई॥

——मेरा हितैषी भगवान् से बढ़कर और कोई नहीं। और भगवान् यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए कि नारद! तुममें भले सब बुराइयाँ आ गयीं पर तुम हितैषी की पहिचान न भूले। विश्वास रखो, अब तो हम तुम्हें बचाकर ही छोड़ेंगे। तुम्हें यह याद तो है कि तुम्हारा हितैषी कौन है।

प्रतापभानु के जीवन में एक ही बुराई आयी। वह यह कि उससे हितैषी की पहिचान में भूल हो गयी। प्रतापभानु ने कपटमुनि के चरण पकड़े और कहा——

अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपाल।
मोहि लागि दुख सहिय प्रभु सज्जन दीनदयाल॥

——हे स्वामी! कृपा कीजिए, आप तो दीनदयाल हैं। तब भगवान् ने समझ लिया कि अभी तक तो दीनदयाल मैं ही कहा जाता था, पर अब ये नये दीनदयाल पैदा हो गये। प्रतापभानु ने एक और वाक्य कपटमुनि से कहा था——

तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखउं कोउ ।
—अब तो, प्रभो, आपके सिवाय मुझे कोई हितैषी दिखाई नहीं दे रहा है ।

भगवान् ने सोच लिया कि जब दीनदयाल और हितैषी उसे मिल गये, तब मेरे हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं । नारद के जीवन में इससे ठीक उल्टी दशा है । पतंग नीचे गिरती दिखाई देती है, पर अगर उड़ानेवाला चतुर हो और सूत्र उसके हाथ में रहे तो पतंग नीचे गिरने न पायेगी । वह उसे सँभाल लेगा । पर यदि पतंग कट चुकी है, उड़ानेवाले के हाथ से अलग हो चुकी है तो वह आकाश में कितनी ही ऊँची क्यों न उड़ती दिखे, उसका गिरना और नष्ट होना अवश्यम्भावी है । इसी प्रकार जो ईश्वर के हाथ में सर्मपित है, जिसके जीवन का सूत्र ईश्वर के हाथ में है, वह भले गिरता हुआ दिखायी दे, भगवान् उसकी रक्षा करेंगे । पर जो ईश्वर से विमुख होकर, अपने अहंकार के द्वारा उनसे अलग होकर ऊपर उड़ रहा है, उसका पतन अवश्यम्भावी है । नारद के जीवन में चाहे जितना पतन आ गया हो पर वे भगवान् से बँधे हुए हैं । इसीलिए भगवान् ने उनके कल्याण के लिए उन्हें बन्दर की आकृति दी । इसलिए नहीं दी कि वे उनकी संसार में हँसी कराना चाहते थे, बल्कि वे तो हँसी का पात्र बनने से बचाना चाहते थे, क्योंकि वे उनसे अत्यधिक प्रेम करते थे । जब नारद ने कहा कि आप सुन्दरता दे

दीजिए, तब भगवान् ने सोचा—यदि मैं अभी नारद को सुन्दर बना दूँगा तो यह जीवन भर के लिए बन्दर बन जायेगा; और यदि अभी बन्दर बना दूँ तो जीवन भर सुन्दर रहेगा। तो सुन्दर बनाकर बन्दर बनाऊँ या बन्दर बनाकर सुन्दर ? अगर मैं सुन्दर बना देता हूँ तो विश्वमोहिनी के साथ उसका विवाह हो जायेगा और विवाह होने के बाद––

नारि बिबस नर सकल गोसाईं।
नाचहिं नट मरकट की नाईं॥

––बेचारा बन्दर बनकर नाचेगा।

को जग काम नचाव न जेही।

अतएव भगवान् ने सोचा––काम का बन्दर बनकर नाचने से तो अच्छा है कि मेरा बन्दर बना रहे। मेरा बन्दर बनेगा तो मैं नचाऊँगा और अगर काम का बन्दर बन जायेगा तो काम नचायेगा।

नाचना तो जीवन में है ही। हम चाहे वासना के संकेत पर नाचें, काम के संकेत पर नाचें या चाहे भगवान् के संकेत पर नाचें। जो जीव भगवान् के संकेत पर नाचता है, वह धन्य है और जो वासना के संकेत पर नाचता है, वह अभागा है।

(क्रमशः)

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) क्षमा वीरस्य भूषणम्

बाजीराव पेशवा की मरहठी सेना ने निजाम की फौज को चारों ओर से घेर लिया। उसको रसद तथा हथियार मिलने के जो रास्ते थे, वे सारे बन्द हो गये। इन्हीं दिनों मुहर्रम का त्यौहार आ गया, मगर घेरे में पड़े निजाम के शिबिर में भूखों मरने की नौबत आ गयी थी। विवश हो निजाम ने पेशवा को पत्र लिखा—"क्या हमारे सिपाहियों को त्यौहार के दिनों में भी भूखों मरना पड़ेगा ? हमने तो सुना था कि पेशवा बहादुर होने के साथ ही रहमदिल होते हैं और वे भूखे दुश्मन पर वार नहीं करते।"

पेशवा ने निजाम का पत्र अपने अष्टप्रधानों के सामने रखा। वे सभी एक स्वर में बोले, "निजाम पर दया करना ठीक नहीं"; किन्तु पेशवा ने कहा, "मरहठे वीर हैं, पर साथ ही मनुष्य भी हैं। वीरता का यह तकाजा है कि शत्रु को अवश्य पराजित किया जाये पर मानवता की अपेक्षा होती है कि क्षुधित शत्रु को भी भोजन दिया जाये।" और पेशवा की आज्ञा से निजाम के पास रसद की गाड़ियाँ भेज दी गयीं।

(२) गोमांस-घृणा

एक बार ईरान जाते समय शहंशाह हुमायूँ को

रास्ते में बड़े जोर की भूख लगी। राह में भोजन करने का अवसर नहीं मिला। रात के समय पड़ाव डालने पर उन्हें पता चला कि उनके सौतेले भाई कामरान और उसकी माँ रायबेगम का पड़ाव भी निकट ही है। हुमायूँ ने अपने नौकर को भेजकर कुछ भोजन मँगवाया। भोजन में माँस और सब्जी थी। जब थाल परसा गया, तो मांस देखकर हुमायूँ को शंका हुई कि कहीं यह गोमांस तो नहीं है और जब उन्होंने पूछताछ की, तो वह शंका सही मालूम हुई। इसपर हुमायूँ उद्विग्न होकर बोल उठे, "हाय रे कामरान! पेट भरने का तेरा क्या यही रास्ता है? हमारे पिता की कब्र की सफाई करने वाले नौकरों के लिए भी गोमांस खाना वर्जित है और तू अपनी पवित्र माँ को यही गोमांस खिलाता है! पिताजी ने जिस तरह अपने परिवार का गुजर किया, उसी तरह क्या हम चारों पुत्र नहीं कर सकते?"

(३) स्वदेशाभिमान

एक अंग्रेज व्यापारी महाराज रणजीतसिंह के दरबार में हाजिर हुआ और उन्हें साथ में लाया हुआ काँच का बहुत-सा सामान दिखाया। उसे पूरी आशा थी कि महाराज काफी माल खरीदेंगे। महाराज ने उन चीजों में से सबसे कीमती फूलदान उठाया और उसे दरबार के बीच में फेंक दिया। काँच का होने के कारण वह फूलदान चकनाचूर हो गया। महाराज ने वे टुकड़े मँगाकर गम्भीर स्वर में उस व्यापारी से पूछा, "अब

इस टूटे हुए फूलदान का क्या मूल्य है ?" व्यापारी ने उत्तर दिया, "अब इसका मूल्य कुछ भी न रहा ।" तब महाराज ने अपने एक नौकर को पीतल की एक दवात देकर आज्ञा दी, "इसे हथौड़ी से तोड़ो और बाद में टूटी हुई दवात को बाजार में जाकर बेच आओ ।"

थोड़ी देर बाद नौकर ने दो पैसे लाकर महाराज को दिये । तब महाराज उस व्यापारी से बोले, "देखो, मेरा देश गरीबों का देश है । हमें ऐसी विदेशी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं; हम तो उन देशी वस्तुओं का उपयोग करते हैं, जिनका वास्तविक मूल्य कम हो, पर टूटने के उपरान्त भी उनका कुछ मूल्य हो । हम हमेशा अपने देश में पैदा हुई वस्तुओं का ही उपयोग करते हैं, विदेश की दीखने में सुन्दर और कीमती वस्तुओं का उपयोग हम नहीं किया करते ।"

(४) श्रम का महत्त्व

एक बार नेपोलियन बोनापार्ट अपनी पत्नी के साथ सन्ध्या समय घूमने निकला । वे एक सँकरे रास्ते से गुजर रहे थे कि एक लकड़हारा सिर पर बोझा उठाये आता दिखायी दिया। जब वह बिलकुल समीप आ गया, तो नेपोलियन ने अपनी पत्नी को संकेत से हटने को कहा और उसने स्वयं भी रास्ता छोड़ दिया ।

पत्नी राजसी स्वभाव की थी, उससे न सहा गया । झुँझलाकर बोली, "एक तो इस उद्दण्ड ने हमें अभिवादन भी नहीं किया और फिर इस नीच को आपने रास्ता

भी दे दिया।" नेपोलियन ने गम्भीर स्वर में कहा, "देवीजी ! आप श्रम का महत्त्व नहीं जानतीं, इसीलिए आप श्रम को ऐश्वर्य से तुच्छ समझ रही हैं। ध्यान रखो, श्रम का अभिवादन सम्राट् के अभिवादन से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है !"

(५) प्रमाण का असर

भारत से लौटते समय दिग्विजयी सिकन्दर के साथ थी अनिन्द्य सुन्दरी फिलिप्स। सिकन्दर उसके रूपजाल में फँसकर सब कुछ भूल गया। फिलिप्स के इस रूपजाल को पहचाना यूनान के महान् दार्शनिक अरस्तू ने। फिलिप्स विषकन्या थी, इसलिए अरस्तू ने सिकन्दर को सावधान किया, किन्तु बात कुछ ही समय के लिए टल सकी। बात फिलिप्स को पता चली और वह अरस्तू से चिढ़ गयी। बदला लेने के लिए उसने अरस्तू पर भी रूपजाल फेंक दिया और वे उसके पीछे ऐसे पागल हुए कि निम्नतर कार्य करने को तैयार हो गये।

एक दिन फिलिप्स ने अरस्तू को घुटनों के बल घोड़ा बनाया, लगाम डाली और उनकी पीठ पर जीन कसकर सवार हो गयी। उसने उनकी पीठ पर चाबुक मारकर उन्हें सारे कमरे दौड़ाया। अकस्मात् सिकन्दर वहाँ पहुँचा और उसने जब यूनान के महान् विद्वान् की वह दीन-हीन दशा देखी, तो वह आश्चर्य से हतबुद्ध रह गया। उसने अरस्तू से प्रश्न किया, "यह सब क्या है ?"

दार्शनिक ने धीर-गम्भीर स्वर में उत्तर दिया, "जो रमणी मुझ जैसे व्यक्ति से यह सब करवा सकती है, वह मुझसे कम आयुवाले अनुभवशून्य युवक के लिए क्या अधिक खतरनाक नहीं हो सकती ? मैंने तुम्हें पहले सावधान किया था और उसका असर न होते देख अब प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है !"

(६) स्वाभिमान

शोलापुर के युद्ध में विजयी होकर राजा मानसिंह राजधानी को लौट रहा था कि रास्ते में उसने अपने आने का समाचार राणा प्रताप को भेजा। वे उस समय कमलमीर में थे और उन्होंने उदयगिरि में उससे मिलने और उसके भोजन का प्रबन्ध किया। जब मानसिंह को भोजन-स्थल पर प्रताप की जगह उनका पुत्र अमरसिंह दिखाई दिया, तो उसने प्रताप के सम्बन्ध में पृच्छा की। अमरसिंह ने उत्तर दिया, "मस्तकशूल के कारण वे आ नहीं सकते।" बात मानसिंह ने ताड़ ली; वह बोला, "मैं इस शूल को खूब जानता हूँ, मगर जान लो कि अब इसकी कोई औषधि नहीं।" तभी अन्दर से राणा ने आवेश भरे शब्दों में कहा, "तो तुम भी जान लो कि मैं उस राजपूत के साथ कभी भोजन नहीं कर सकता, जो अपनी बहू-बेटियों का विवाह एक तुर्क के साथ कर सकता है।" यह सुन मानसिंह अपमानित मानकर बिना भोजन किये उठ खड़ा हुआ और बोला, "अगर आप अपनी बहू-बेटियाँ तुर्कों को नहीं दे सकते, तो इसका

यह अर्थ हुआ कि आप स्वयं खतरा मोल रहे हैं। जान लो, मैं इस अपमान का बदला लूँगा। अब यह मेवाड़ आपका न रहेगा।"

यह सुन प्रताप ने भी उत्तर दिया, "मैं इसके लिए सहर्ष तैयार हूँ।" फिर प्रताप ने भोजन स्थल को खोदा और उसमें सारे भोजन-पात्र गाड़कर उन पर गंगाजल छिड़का। इतना ही नहीं, जिन्होंने मानसिंह को देखा था, उन्होंने स्नान कर नये वस्त्र पहने।

•

जनरल स्ट्राँग नाम के मेरे एक अंग्रेज मित्र सिपाही-विद्रोह के समय इस देश में थे। वे गदर की कहानी बहुत कहते थे। एक दिन बातों ही बातों में मैंने उनसे पूछा, "सिपाहियों के साथ इतनी तोपें, बारूद, रसद थी, और वे शिक्षित तथा दूरदर्शी थे। फिर वे इस तरह क्यों हारकर भागे?" उन्होंने उत्तर दिया, "उसमें जो लोग नेता हुए थे, वे सब बहुत पीछे से 'मारो बहादुर,' 'लड़ो बहादुर' कह-कहकर चिल्ला रहे थे! स्वयं अफसर के आगे बढ़े बिना तथा मौत का सामना किये बिना कहीं सिपाही लड़ते हैं?" सब कामों में ऐसा ही हाल है। "सिरदार तो सरदार"! सिर दे सको तो नेता हो। हम सब लोग धोखा देकर नेता होना चाहते हैं; इसी से कुछ होता नहीं, कोई मानता भी नहीं।

—स्वामी विवेकानन्द

गौरी-माँ

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १८८२ के आसपास एक अत्यन्त कमनीय कान्ति से युक्त गैरिक वसन संन्यासी दक्षिणेश्वर के सन्त के दर्शन करने के लिये पहुँचा। दूर से उस संन्यासी की उम्र बहुत कम लगती थी किन्तु उसके मुख पर कठोर आध्यात्मिक साधनाओं का प्रभामण्डल विद्यमान था। जब वह श्रीरामकृष्ण देव के कमरे में आया और उसने उन्हें प्रणाम किया तब आरम्भिक बातचीत में ही यह पता चल गया कि आगन्तुक संन्यासी नहीं, प्रत्युत संन्यासिनी है। अपने लोकदुर्लभ सौन्दर्य को छिपाये रखने के लिए उस संन्यासिनी ने अपने केश कटवा डाले थे और समस्त शरीर में विभूति रमा ली थी। युगावतार श्रीरामकृष्ण देव ने पहली ही दृष्टि में इस संन्यासिनी की गहरी आध्यात्मिकता की थाह पा ली थी और उन्होंने यह जान लिया था कि यह संन्यासिनी उनके जीवन-कार्यों की सहायिका है। श्रीरामकृष्ण देव ने उसे आध्यात्मिक साधनाओं के सम्बन्ध में अनेक बहुमूल्य उपदेश दिये तथा उसे श्रीमाँ सारदा देवी के साथ नौबतखाने में रहने के लिए भेज दिया। यही अल्पवयसा किन्तु कठोरतम आध्यात्मिक साधनाओं में पारंगत संन्यासिनी गौरी-माँ के रूप में जानी जाती हैं।

गौरी-माँ का पूर्व नाम मृड़ाणी था। उनका जन्म

कलकत्ता के समीप स्थित शिवपुर नामक कसबे में सन् १८५७ के लगभग हुआ था। उनके पिता श्री पार्वती-चरण चट्टोपाध्याय बड़े ही आचारप्रवण ब्राह्मण थे तथा उनकी माता गिरिबाला देवी भी अत्यन्त विदुषी तथा सर्वगुणसम्पन्ना थीं। वे कुशल कवियित्री थीं तथा उन्होंने बँगला भाषा में अनेक मनोहारी गीतों की रचना की थी। संस्कृत भाषा में भी उनकी गहरी पैठ थी तथा उनके द्वारा रचे गये संस्कृत के श्लोक उनकी महान् काव्य-प्रतिभा के परिचायक हैं। उन्हें बँगला के अतिरिक्त फारसी और अंग्रेजी का भी ज्ञान था। पति के समान ही गिरिबाला देवी भी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं तथा अनेकानेक आध्यात्मिक साधनाओं में लगी रहती थीं। मृड़ाणी में माता-पिता के इन समस्त गुणों का अप्रतिम विकास हुआ था।

गिरिबाला देवी अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थीं। अतः उन्हें अपनी माता की सम्पत्ति की देखभाल करने के लिए भवानीपुर में ही अधिक समय तक रहना पड़ता था। मृड़ाणी का बाल्यकाल भी ननिहाल में व्यतीत हुआ था। भक्तिमती माता तथा नानी के साहचर्य में मृड़ाणी की आध्यात्मिकता का विकास हो रहा था।

ऐसे तो मृड़ाणी के घर में जगदम्बा की पूजा-उपासना होती थी किन्तु मृड़ाणी के हृदय में श्रीकृष्ण-भक्ति की लहरें उठने लगी थीं। एक बार वृन्दावन-

धाम में निवास करनेवाली एक वैष्णवी मृड़ाणी के घर आयी। वह श्रीकृष्ण की उपासिका थी तथा निरन्तर अपने उपास्य की लीलाओं का चिन्तन किया करती थी। मृड़ाणी के कोमल हृदय में उसी ने कृष्ण-भक्ति का पौधा रोपा था। जिस प्रकार मृड़ाणी उस वैष्णवी की भक्ति-भावना से प्रभावित थी, उसी प्रकार मृड़ाणी की आध्यात्मिकता का परिचय प्राप्त कर वह वैष्णवी भी अतिशय मुग्ध हो उठी थी। जाते समय उसने मृड़ाणी को अपनी श्रीकृष्ण की वह प्रतिमा भी दे दी थी जिसकी वह निरन्तर पूजा किया करती थी। इस घटना के उपरान्त मृड़ाणी की समूची भक्ति-धारा श्रीकृष्ण के आलम्बन से प्रवाहित होने लगी और गोपीजनवल्लभ कृष्ण मृड़ाणी के प्राण-प्राण में बस गये।

जिसने भी जीवन में एक बार ईश्वर की भक्ति-सुधा का आस्वादन किया है उसे संसार के समस्त प्रलोभन तुच्छ प्रतीत होते हैं। मृड़ाणी की दशा भी ऐसी ही थी। श्रीकृष्ण को अपना जीवन-धन और प्राण-सखा समझने वाली मृड़ाणी अब संसार को एक बहुत बड़ी बाधा के रूप में देख रही थी। उसने जैसे ही युवावस्था में पदार्पण किया वैसे ही उसके विवाह का आयोजन भी किया जाने लगा। जब मृड़ाणी को इसका ज्ञान हुआ तब उसने स्पष्ट रूप से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहा था कि वह उसी पुरुष से विवाह करेगी जिसकी कभी मृत्यु नहीं होती। मृड़ाणी ने वृन्दावन-

विहारी के चरणों में अपना सब-कुछ सौंप दिया था तथा वह किसी अन्य पुरुष से अपने विवाह की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। किन्तु जब मृड़ाणी की बात की परवाह न करते हुए जबर्दस्ती उसका विवाह निश्चित किया गया तब विवाह के दिन ही वह घर से भाग खड़ी हुई। दो-दिनों के बाद ढूँढ़कर उसे घर लाया गया। पर अब घर मृड़ाणी को कारागार के समान प्रतीत होने लगा था। वह सर्वात्म-भाव से श्रीकृष्ण-समर्पित जीवन बिताना चाहती थी जिसके लिए घर का वातावरण उसे उपयुक्त प्रतीत नहीं हो रहा था। इसलिए पुनः उसने घर से भागने की कोशिश की पर ऐन मौके पर वह पकड़ ली गयी।

ईश्वर-प्रेम का पथ अत्यन्त दुर्गम होता है तथा विरले ही उस पर चल पाते हैं। किन्तु जो एक बार यह राह पकड़ लेते हैं, उनके मार्ग की सभी बाधाएँ श्रीभगवान् अपने कृपा-कटाक्षों से दूर कर देते हैं। मृड़ाणी ने भी ईश्वरीय-प्रेम की सुधा का आस्वादन कर लिया था। उसके हृदय में तीव्र वैराग्यानल प्रज्वलित हो उठा था तथा परिजनों की आपत्तियों और अनुनयों का उसके समक्ष कोई महत्त्व नहीं रह गया था। वह विरहविधुरा मीरा की भाँति श्रीकृष्ण की लीलाओं का गायन करते हुए विचरण करना चाहती थी। इसलिए उसने तीसरी बार गृह त्यागने का निश्चय किया और इस बार मृड़ाणी के परिजन उसका सन्धान करने में

सफल न हो सके ।

मृडाणी ने अथाह संसार-सागर में श्रीकृष्ण के पुनीत नाम की पतवार के सहारे अपनी जीवन-नौका छोड़ दी। अब वे गौरी के नाम से काषाय वस्त्रों को धारण कर घूमने लगीं। अभी उन्होंने युवावस्था में चरण ही रखे थे। उनका अपूर्व रूप तथा श्यामल दीर्घ कुन्तलों का सौन्दर्य हठात् किसी का भी ध्यान आकृष्ट कर लेता था। इसलिए उन्होंने अपने केशों को तिलांजलि दे दी। घने काले केश धरा पर गिर पड़े। किन्तु शरीर की तप्त कांचनवर्णा आभा का क्या किया जाय ? गौरी-संन्यासिनी ने पूरे शरीर में भस्म का आलेपन कर लिया और कठिनतर आध्यात्मिक साधनाओं में प्रवृत्त हो गयीं।

युगावतार श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था कि तत्कालीन समस्त उच्चात्माओं को पूर्णता प्राप्त करने के लिए उनके समीप आना होगा। तब तक गौरी-माँ ने नौ-दस वर्षों तक अनवरत रूप से तपश्चर्या का जीवन बिता लिया था तथा वैराग्य की अग्नि ने तपाकर उन्हें तपःपूत बना दिया था। इस साधना-काल में उन्होंने उत्तर भारत के सभी प्रसिद्ध तीर्थस्थलों की यात्रा की थी तथा केदारनाथ और बदरीनाथ के दर्शन भी किये थे। उनका हृदय आध्यात्मिक अनुभवों से लबालब भर गया था। इसी बीच वे जब श्रीजगन्नाथ धाम में रहकर तपस्या कर रही थीं, उनकी भेंट श्रीरामकृष्ण देव के सुख्यात गृही भक्त बलराम बोस से हुई, जो उस समय

पुरी में ही रहा करते थे। बलराम बोस के मुख से दक्षिणेश्वर के सन्त की सुकीर्ति सुनकर गौरी-माँ उनके दर्शन करने के लिये कलकत्ता आयीं। जब उन्होंने इस महामानव को देखा और उनके वचनामृत का पान किया तब उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ही श्रीरामकृष्ण देव के रूप में इस धराधाम में अवतीर्ण हुए हैं।

गौरी-माँ ने क्रमशः श्रीरामकृष्ण देव के लोकोत्तर स्वरूप को जान लिया और उन्हें अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया। श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से उनकी आध्यात्मिक प्रगति द्रुततर हो गयी और वे दक्षिणेश्वर के नौबतखाने में श्रीमाँ सारदा देवी के साथ निवास करते हुए इस महामानव की भगवदीय लीलाओं का दर्शन-श्रवण करने लगीं। एक बार श्रीरामकृष्ण देव की उपस्थिति मात्र से गौरी-माँ को महाभाव हो आया था। यह महाभाव ठीक वैसा ही था जिसका अनुभव श्रीचैतन्य के साथ कीर्तनरत भक्तों को हुआ करता था। इससे गौरी-माँ को यह दृढ़ प्रतीति हो गयी कि श्रीरामकृष्ण सामान्य जन नहीं हैं, वे अवतारी पुरुष हैं, भगवदीय पारावार के चिरविचरणशील राजहंस हैं। इस अनुभूति से उनकी आध्यात्मिकता और भी अधिक समृद्ध हुई तथा वे श्रीरामकृष्ण देव के निर्देशों के अनुरूप तपस्या करते हुए उनकी सेवा करने लगीं।

श्रीरामकृष्ण देव के तिरोधान के समय गौरी-माँ

वृन्दावन में तपस्यारत थीं । जब उन्होंने यह सुना कि ठाकुर ने उन्हें अन्तिम समय में स्मरण किया था तो उन्हें अपार दुःख हुआ और वे अधिकाधिक साधनाओं में डूब गयीं। दुःखभार से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने पुनः हिमालय की यात्रा की और अनेकानेक स्थानों में निवास करते हुए तपस्या करने लगीं।

श्रीरामकृष्ण देव यह नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य संसार से निरपेक्ष होकर मुक्ति-साधन में लगे रहें। इस बार उनका आगमन तो संन्यास को सक्रिय बनाने के लिए तथा कर्मठ वेदान्त का सन्देश सुनाने के लिए हुआ था। इसीलिए उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के लिए विकल नरेन्द्रनाथ को ताड़ना देते हुए 'शिव-ज्ञान से जीव सेवा' का अमृत मंत्र प्रदान किया था तथा सेवा को उच्चतर साधना का पर्याय बना दिया था। उन्हींके आदर्शों के अनुरूप जहाँ युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय नवजागरण का समारम्भ किया था, वहीं श्रीमाँ सारदा देवी को केन्द्र बनाकर भारतीय नारियों के पुनरुत्थान की आयोजना भी हुई थी तथा इस पुनरुत्थान में गौरी-माँ ने अभूतपूर्व योगदान दिया था।

गौरी-माँ की तीर्थाटन एवं तपस्या में विशेष रुचि थी इसीलिए वे चालीस वर्षों तक भारत के धार्मिक स्थलों में विचरण करते हुए तपस्या करती रहीं। श्रीरामकृष्ण देव ने एक अवसर पर उनसे कहा था कि उन्हें नारियों के कल्याण के लिए कार्य करना होगा।

उस समय उन्हें इस कार्य की कल्पना तक नहीं थी। तब उनका मन अधिकाधिक रूप से तपस्याओं में लीन रहना चाहता था तथा वे शहर की भीड़भाड़ में रहकर कार्य करने की बात सोच भी नहीं सकती थीं। किन्तु श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से उन्हें अपने जीवन-कार्य की सुस्पष्ट झाँकी दिखायी पड़ने लगी। अपने सुदीर्घ परिव्रजन में गौरी-माँ ने भारतीय नारी की असहायावस्था और दुर्दशा को खुली आँखों देखा था तथा उन्होंने उनके कल्याण के निमित्त कुछ कार्य करने का विचार भी किया था। इसीलिए सन् १९०० के लगभग कलकत्ता के समीप बैरकपुर इलाके में उन्होंने असहाय लड़कियों और महिलाओं को आध्यात्मिक उन्नति के हेतु श्री सारदेश्वरी आश्रम की स्थापना की। कालान्तर में उन्होंने इस आश्रम के साथ कन्याशाला भी प्रारम्भ की। आज यह आश्रम अपने विराट स्वरूप में गौरी-माँ की जीवन-साधना की कथा कह रहा है तथा हिन्दू नारियों की शिक्षा के एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में कार्यरत है।

गौरी-माँ का विचार था कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली त्रुटिपूर्ण है तथा उसमें नारी के सर्वांगीण विकास की सम्भावना नहीं है। हिन्दू नारी के समग्रगत विकास को लक्ष्य में रखकर उन्होंने अपने आश्रम की रूपरेखा बनायी थी और इसके क्रियान्वयन के लिए कठोर श्रम किया था। बिहार, बंगाल तथा असम की लम्बी यात्राओं

में उन्होंने अपने नारीशिक्षा विषयक विचारों का प्रसार किया था। वैराग्यदीप्त व्यक्तित्व के प्रभाव से गौरी-माँ को सर्वत्र सहयोग मिलना प्रारम्भ हो गया तथा उनके जीवन-काल में ही इस आश्रम की द्रुत गति से प्रगति हुई। ठाकुर की इच्छा को चरितार्थ करने के लिए गौरी-माँ ने अपार कष्ट सहे थे। आरम्भ में वे ही आश्रम के लिए चन्दा इकट्ठा करतीं, दैनन्दिन कार्यों का प्रबन्ध करतीं और आश्रमवासिनियों को शिक्षा प्रदान करती थीं। वे इस आश्रम को पूर्णतया स्वावलम्बी बनाना चाहती थीं तथा अपनी शिष्याओं को उन्होंने इस योग्य बना दिया था कि वे स्वयं अपने बूते आश्रम का संचालन कर सकें। आज यह आश्रम गौरी-माँ की शिष्याओं के द्वारा संचालित हो रहा है तथा उनके असीम धैर्य और संगठन-क्षमता का जीवन्त उदाहरण है। कह चुके हैं कि गौरी-माँ के आरम्भिक चालीस वर्ष आध्यात्मिक साधनाओं में व्यतीत हुए थे तथा परवर्ती चालीस से भी अधिक वर्षों तक नारी-कल्याण के लिए कार्य करते हुए २८ फरवरी सन् १९३८ को उन्होंने देहत्याग किया था। उनके जीवन में जहाँ गार्गी और मैत्रेयी जैसी मंत्रदर्शिनी देवियोंका जीवनादर्श प्रतिबिम्बित हुआ था, वहीं भारतीय नारी के भविष्यत्कालीन दिव्य स्वरूप की भी प्रतिकृति विद्यमान थी।

●

आधुनिक भारत में नव-जागरण का प्रारम्भ

श्रीमती पुष्पा तिवारी

(३ ए/३३/९, भिलाईनगर)

पश्चिम की बौद्धिक विजय

आधुनिक भारत के बुद्धिजीवियों के समक्ष यदि कोई संकट आसन्न है, तो वह है राष्ट्रीय चिन्तन पर बढ़ता हुआ पश्चिमी प्रभाव और नये राष्ट्रीय मूल्यों की स्थापना का संघर्ष। आज अधिकांश बुद्धिजीवी जन भारतीय जनजीवन और मूल्यों को प्रभावित करने वाली पाश्चात्य संस्कृति की चर्चा तो करते हैं, लेकिन 'पश्चिमी संस्कृति' से हमारा तात्पर्य क्या है ? अक्सर भारतीय और पश्चिमी मूल्यों की आपसी टकराहट का विवरण हमारे साहित्य में भी दिखलाई पड़ता है। हमारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवेश की प्रचलित व्यवस्थाओं को नकारती पश्चिमी दृष्टि ने पिछले दो-तीन सौ वर्षों के हमारे चेतना के इतिहास को झकझोरकर रख दिया है। राजनीतिक आजादी के बाद भी विदेशी मूल्यों की षड़यंत्रकारी उपस्थिति भारत में ब्रिटिश राज्य की बौद्धिक विजय का बचा हुआ दुष्परिणाम मात्र है। यह एक राष्ट्रीय कलंक है। चिन्तन और तार्किक व्याख्याओं पर गहराता हुआ पाश्चात्य (आधुनिक) भाव-बोध अन्ततः हमारे अस्तित्व के संकट का ही सूचक है। इस संकट की मनोवैज्ञानिक स्थिति

का पूर्वाभास पिछली दो सदियों के अनेक भारतीय प्रज्ञा-पुरुषों ने दिया है। हमारे राष्ट्रीय ढाँचे की सांस्कृतिक मजबूती उनके ही भगीरथ प्रयत्नों का परिणाम है। उन्होंने ही पराधीन भारत में सर्वप्रथम सदियों के अन्धकार में सोयी हुई जाति को एक जागरूक राष्ट्र में बदलने का निश्चय किया। उनके मौलिक चिन्तन ने प्राचीन भारतीय मूल्यों को नये परिवेश में स्थापित करने की जोरदार सिफारिश की और कालान्तर में हमारी राजनीतिक आजादी का मार्ग प्रशस्त किया। हमारी स्वाधीनता उन महान् राष्ट्रीय विचारकों के कार्यों की ही चरम परिणति है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में दुर्भाग्यवश प्रवहमान इतिहास की धारा को अन्यत्र मोड़ने की गलत कोशिशें की गयी हैं। इसका परिणाम सरकारी स्तर पर कूटनीति और अर्थनीति के क्षेत्रों में तो हुआ ही है, भारतीय सामाजिक जीवन भी अपनी परम्परागत पृष्ठभूमि से क्षत-विक्षत होता जा रहा है। अन्ततः यह भटकाव हमारे जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक अस्तित्व के समक्ष अनुत्तरित प्रश्नों के अम्बार छोडने का उपक्रम कर रहा है। लेकिन 'प्रगतिशील' और 'अन्तर्राष्ट्रीय' विचारधारा के साथ ही साथ राष्ट्रीय चिन्तन की प्रणाली सदैव ही गतिमान रही है। भविष्य इन्हीं दो विचारधाराओं का युद्धस्थल होगा। भावी इतिहास की चाहे जो नियति हो, वह हमारे अतीत से सर्वथा असम्पृक्त नहीं हो सकता। इसलिये राजा-रानी

के स्वयंवरों और यौद्धिक घटनाक्रमों के राजनीतिक इतिहास को पढ़ने की अपेक्षा विचारों की गतिशीलता के इतिहास का अध्ययन आज हमारा आवश्यक राष्ट्रीय कर्तव्य है।

पिछली दो-तीन सदियों में भारत पर यूरोपीय जातियाँ—अंग्रेज, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, डच, जर्मन और इतालवी आदि—का भारी असर पड़ा है। ये सभी जातियाँ मिशनरी, व्यापारी, प्रशासक, सैनिक, बुद्धिजीवी आदि अनेक रूपों में भारत में आयातित हुईं। इनमें से प्रत्येक ने भारतीय साम्राज्य पर विजय पाने के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रयत्न किये लेकिन आपस में वे विदेशी ही रहे। मुगल प्रशासन के चरमराते ढाँचे वाला भारत एक ऐसी गर्हित नैतिक दशा में पहुँच रहा था, जहाँ हर विदेशी आक्रमण सम्भव था। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी का भारत करुणा, त्रास और अधःपतन का पर्याय था, यद्यपि कहीं-कहीं इसके अपवाद भी मौजूद थे। जीवन्तता, प्राणवत्ता और उत्साह लोगों में रह नहीं गया था। संक्षेप में यह ठहराव का युग था, ठीक वैसा ही जैसा हम आजादी की तीन पंचवर्षीय योजनाओं के बाद देख रहे हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत की राजनीति और व्यापार पर नियंत्रण तो कर लिया था परन्तु उसकी विशाल संस्कृति के समक्ष अनेक प्रबुद्ध अँगरेज नतशिर थे। नई शिक्षा के प्रवर्तकों में वारेन हेस्टिंग्स, विलियम

जान्स, सर थामस मुनरो आदि के नाम लिये जा सकते हैं। सन् १८१३ में मुनरो ने संसद में कहा था, यदि इन दो देशों के बीच सभ्यता कभी भी व्यापार की वस्तु बनी तो इंग्लैंड ही आयातित माल से ज्यादा लाभ उठा सकता है। भारतीयता के प्रशंसक अँगरेज Brahmanised Britons कहलाने लगे, क्योंकि भारतीय मूल्यों के प्रशंसक होने के कारण वे भारत में पश्चिमी सभ्यता और ईसाइयत के प्रचार के विरुद्ध थे। परन्तु ईसाई मिशनरियों को भारत में धर्मप्रचार का खुला आमंत्रण और सरकारी संरक्षण मिला। शिक्षा-प्रचार पर वार्षिक एक लाख रुपयों का अनुदान भी स्वीकृत किया गया। मिशनरियों ने छापेखाने स्थापित किये और शब्दकोश, व्याकरण और अनुवाद के माध्यम से बुद्धिजीवियों को विजित करने का अभियान प्रारम्भ किया। १७८० ई० में ही भारत का पहला अखबार 'हिक्की का बंगाल गजट' प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षण देने वाली निजी शालाएँ भी स्थापित की गईं। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार की माँग दिनोंदिन बढ़ने लगी। राजा राममोहनराय भी इसी विचार के पोषक थे। मैकाले ने इस सुनहरे मौके का लाभ उठाकर कहा कि इस देश के निवासियों को अंग्रेजी का अच्छा ज्ञाता बनाने की ओर ही हमें प्रयत्न करना चाहिये। मैकाले की राय में यह सम्भव और आवश्यक दोनों था। ७ मार्च १८३५ को लार्ड विलियम बेंटिक ने अपने निश्चय की घोषणा करते हुए कहा,

"भारत के निवासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रसार ब्रिटिश सरकार का प्रधान उद्देश्य होना चाहिये, और इसलिये शिक्षा के लिये स्वीकृत समस्त राशि केवल अंग्रेजी शिक्षण पर ही खर्च की जानी चाहिये ।" अंग्रेजी शिक्षण की अच्छाइयाँ और औचित्य पर किसी को सन्देह न रहने पर भी 'केवल अंग्रेजी शिक्षण' की बर्तानवी कूटनीति ने अनेक देशभक्त भारतीयों को आशंकित कर दिया । मातृभाषा में शिक्षण की परिपाटी पर कुठाराघात करके अंग्रेजी ने सभी भारतीय भाषाओं के विकास को रोकने के अतिरिक्त भारतीयों को उनके स्वाभाविक परिवेश से अलग करने का षड़यंत्र भी रचा । पश्चिमी शिक्षा के प्रसार के कारण खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन और आचार-व्यवहार पर भी अंग्रेजी असर पड़ना स्वाभाविक था । श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार के शब्दों में, "हमारे शिक्षित नवयुवक उन्नीसवीं सदी के हैं, परन्तु उनके घर अभी भी पहली शताब्दी में जी रहे हैं ।"

ईसाई मिशनरियों के लिये यह स्वर्ण-युग था । उन्होंने शिक्षित और अविकसित भारतीयों को ईसाई धर्म में दीक्षित करना प्रारम्भ किया । 'जाति बदलुओं' और धर्मप्रचारकों ने हिन्दूधर्म के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया । अंग्रेजी पढ़े लिखे 'बाबुओं' ने स्वयं को अंग्रेज ही समझना शुरू कर दिया । डा. राधाकृष्णन् के अनुसार अंग्रेजी पढ़े-लिखे इन बाबुओं की आवाज केवल प्रतिध्वनि,

उनका जीवन एक उद्धरण, उनकी आत्मा सिर्फ मस्तिष्क और उनका उन्मुक्त चिन्तन गुलाम था। भारी संख्या में ईसाई मिशनरियों ने लालच देकर भारतीयों को धर्म-परिवर्तन के लिये उकसाना जारी रखा। तब हिन्दू सन्तों और विचारकों का ध्यान इस 'अस्तित्व के संकट' की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने इस बात का संकल्प किया कि वे मृतप्राय हिन्दू धर्म की शिराओं में चेतना का रक्त प्रवाहित करेंगे। इसके फलस्वरूप हिन्दू स्कूलों की स्थापना की गई। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने घर-घर जाकर अभिभावकों से यह प्रार्थना की कि वे अपने बच्चों को केवल हिन्दी स्कूलों में ही अध्ययन करने के लिये भेजें। इसके बावजूद ब्रिटिश प्रणाली की शिक्षा अप्रतिहत रूप से कायम रही और उसकी दूषित मनोवृत्ति का अपेक्षित प्रभाव अनेक प्रबुद्ध भारतीयों पर भी अनवरत रूप से बढ़ता ही गया। श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के शब्दों में--"हमारे पूर्वज, जो अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे, कट्टर ब्रिटिश समर्थक थे, वे पश्चिमी सभ्यता अथवा संस्कृति में कोई भी खोट देख पाने में असमर्थ थे...। हर अंग्रेजी वस्तु अच्छी समझी जाती थी--यहाँ तक कि शराब पीना भी एक नैतिक गुण करार दिया जाता था। और हर गैरअंग्रेजी वस्तु को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था। हिन्दू धर्म को रूढ़ियों एवं अन्धकार का पर्याय समझने वाले तथाकथित शिक्षित भारतीय अपने जीवन और

दृष्टिकोण का पश्चिमीकरण करने में दत्तचित्त होकर जुट गये।

हमारी मुक्ति के मसीहा

ऐसे समय में राजा राममोहन राय ने ही लगभग सर्वप्रथम हिन्दू जाति के उद्धार के नवयुग का उद्घाटन किया। वे यद्यपि हिन्दू धर्म की रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध थे, तथापि वे अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार को आवश्यक समझते थे। हिन्दू धर्म के मूल्यों की पुन-र्स्थापना के लिये उन्होंने उपनिषदों और वेदों की मूल भावना से अनुप्राणित होकर हिन्दू धर्म की मूल उप-पत्तियों के प्रचार पर जोर दिया। वे मूर्तिपूजा, जातिवाद और सतीप्रथा आदि के कट्टर विरोधी थे। हिन्दू धर्म की प्रचलित व्यवस्थाओं को यथावत् स्वीकारने की अपेक्षा उन्होंने सर्वधर्मसमन्वय पर बल दिया। इसी भावना से प्रेरित हो उन्होंने सन् १८२८ में 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। 'ब्रह्मसमाज' का कार्य उनके बाद द्वारकानाथ ठाकुर और उनके पुत्र महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने आगे बढ़ाया। 'ब्रह्मसमाज' के माध्यम से ही १८५७ में महर्षि देवेन्द्रनाथ की मुलाकात आचार्य केशवचन्द्र सेन से हुई। यह एक असाधारण भेंट थी। लगभग एक दशक तक 'ब्रह्मसमाज' एक शक्तिशाली संस्था के रूप में सम्पूर्ण बंगाल को अपनी ज्योति से आलोकित करता रहा। वह देश के धार्मिक और सांस्कृतिक नवोत्थान का प्रतीक था। परन्तु केशव सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ के मध्य मतभेद हो गया और

उनके बीच की खाई निरन्तर चौड़ी होती गयी तथा १८६६ में केशव सेन इससे पृथक् हो गये। वस्तुतः केशव सेन ईसा के सन्देश और उनके जीवन-दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे और आधुनिक पाश्चात्य मूल्यों को भारत के संदर्भ में व्यवहृत करना चाहते थे। इसके विपरीत 'ब्रह्म-समाज', जो कालान्तर में 'आदि ब्रह्मसमाज' और 'साधारण ब्रह्मसमाज' के नाम से विख्यात हुआ, मूलरूप में भारत के प्राचीन नैतिक मूल्यों को सुरक्षित रखने में सफल रहा। आचार्य केशव सेन का साथ उनके चचेरे भाई प्रतापचन्द्र मजूमदार ने दिया और महर्षि देवेन्द्रनाथ को आनन्दमोहन बोस और अक्षयकुमार दत्त ने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। आगे चलकर स्वयं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ब्रह्मसमाज' के विभिन्न गुटों में एकता स्थापित करने की असफल कोशिश की। 'ब्रह्मसमाज' उन्नीसवीं सदी के बंगाल का लगभग सर्वप्रमुख गैर-राजनीतिक संगठन था——यह बात निर्विवाद है।

आधुनिक नवराष्ट्रवाद के प्रवर्तक राजा राममोहन राय की प्रतिभा बहुमुखी थी। भारत के पुनर्निर्माण की उनकी चतुर्मुखी योजना के कार्य को आगे बढ़ाने में अनेक भारतीयों ने अपना कर्मठ योगदान दिया है। समाज-सेवा के उनके आदर्श को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने नये आयाम और अभिनव अर्थ प्रदान किये। वे एक प्रबुद्ध शिक्षाशास्त्री और अपने युग के सबसे बड़े निर्विवाद जन-सेवक थे। उनमें प्रखर तार्किक अभिव्यंजना और

कट्टर सिद्धान्तप्रियता थी। आचार्य केशवचन्द्र सेन भी राजा राममोहन राय के उत्तराधिकारियों में विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका व्यक्तित्व यद्यपि विवादग्रस्त था, उनके क्रान्तिकारी विचार, असाधारण वक्तृत्वशक्ति और ठोस वैचारिक योगदान को नकारा नहीं जा सकता। १८७० में उनके इंग्लैंड-प्रवास के बाद प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने उन्हें तत्कालीन युग के 'मार्टिन लूथर' की संज्ञा दी और सुखद आश्चर्य व्यक्त किया कि यह नाम इंग्लैंड में प्रत्येक घर में परिचित है। आचार्य सेन ने भारत और इंग्लैंड को वैचारिक स्तर पर निकट आने का आह्वान करते हुए कहा, 'भारत को इंग्लैंड से व्यावहारिक नैतिकता सीखनी चाहिये और बदले में इंग्लैंड को भारत से भक्ति, विश्वास और प्रार्थना के तत्त्व ग्रहण करने चाहिये।' पश्चिमाभिमुख होते हुए भी आचार्य केशव सेन भारतीयता के सर्वोत्तम तत्त्वों से ओतप्रोत थे। नवराष्ट्रवाद के उदय में उनका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य केशव सेन के समकालीन, पंजाब के पौरुष के प्रतीक, 'आर्य-समाज' के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी नये भारत के इतिहास में सम्मानजनक स्थान है। 'ब्रह्मसमाज' के अनुयायियों के पूर्व-पश्चिम समन्वय के दर्शन के विरुद्ध स्वामीजी ने भारत के अतीत के मूल्यों का नवीनीकरण करने का सराहनीय प्रयास किया। वे वैदिक संस्कृति में वर्णित युग-सत्य

की अक्षयता के प्रति आश्वस्त थे। हिन्दुत्व का शुद्धीकरण और जीवन्तता उनके प्रयत्नों का उद्देश्य था। धर्म की आध्यात्मिक अनुभूति के लिये उन्होंने स्तुति, प्रार्थना और उपासना के त्रिसूत्री फार्मूले की आवश्यकता प्रतिपादित की। श्री अरविन्द ने उन्हें ठीक ही एक असाधारण उच्च पर्वत-शिखर निरूपित किया है। स्वामी दयानन्द के प्रमुख अनुयायियों में लाला हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पश्चिमी भारत के बम्बई और पूना प्रभृति प्रमुख शहर बौद्धिक जागरूकता के गतिशील केन्द्र हो गये थे। इन शहरों ने मर्यादित और आदर्शवादी प्रबुद्ध नवयुवकों को अपनी ओर शुरू से ही आर्कषित कर रखा था। इन बुद्धिजीवियों ने अशिक्षित और पिछड़ी हुई जनता का गम्भीर, उत्तरदायी और प्रेरक नेतृत्व किया। इनके बौद्धिक जागरण के अभियान के फलस्वरूप आर्थिक प्रगति और राजनीतिक आजादी का मार्ग धीरे धीरे दृष्टिगोचर हुआ। ऐसी ही बौद्धिक और नैतिक पृष्ठभूमि में १८४९ में 'प्रार्थना सभा' और १८६७ में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई। 'प्रार्थना समाज' ने महाराष्ट्र के मूर्धन्य सन्तों की परम्परा को विकसित करते हुए ईश्वर की पूजा पर विशेष बल दिया। उनके आर्दश थे ज्ञानदेव, एकनाथ, नामदेव और समर्थ रामदास। 'प्रार्थना समाज' के

कार्यकर्ताओं में कम से कम दो ऐसे विचारक भी थे, जिन्हें राष्ट्रीय ख्याति मिली। ये थे काशिनाथ त्र्यम्बक तेलंग और महादेव गोविन्द रानडे।

काशिनाथ तेलंग अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य के जिज्ञासु, अध्यवसायी पाठक थे। वे एक कुशल अधिवक्ता, न्यायाधीश और बम्बई विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी थे। उनके भाषणों और लेखों में कानूनी, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक ज्वलन्त प्रश्नों पर सधी हुई शैली उनकी असाधारण विवेकदृष्टि और तर्क का परिचय देती है। भगवद्गीता का उनका अनुवाद एक विख्यात कृति है। वे अपने श्रोताओं को वैसे ही मंत्रमुग्ध कर सकते थे जैसे कोई कुशल संगीतज्ञ। तेलंग से बौद्धिक प्रखरता में क्षीण महादेव गोविन्द रानडे कहीं अधिक उदात्त व्यक्ति थे। उनके राजनीतिक शिष्य श्रीनिवास शास्त्री के शब्दों में, "महान् रानडे-उनका परिचय देने का सर्वोत्तम तरीका यही है कि उन्हें 'आधुनिक भारत का पिता' घोषित किया जाय। ज्ञान की कोई ऐसी विध नहीं थी जहाँ उनका असाधारण अधिकार न हो, लोकजीवन में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था, जहाँ वे प्रकाशस्तम्भ सदृश न हों, और राष्ट्र-कल्याण का ऐसा कोई पक्ष नहीं था, जहाँ वे एक नि:स्वार्थ जनसेवक नहीं थे।" रानडे एक प्रख्यात अर्थशास्त्री, विधि-वेत्ता, इतिहासकार होने के अतिरिक्त भूगोल, गणित, तर्कशास्त्र और

अंग्रेजी साहित्य के अधिकारी ज्ञाता थे। प्रार्थना समाज, पूना सार्वजनिक सभा और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय-चेतना के इतिहास में अपनी सर्वोच्च जगह सुरक्षित कर ली है। वे "भारतीय अर्थ-शास्त्र के पिता" कहे जाते हैं। काँग्रेस के संस्थापक मि. ह्यूम ने उन्हें अपना "राजनीतिक गुरु" माना है। न्यायाधीश कैण्डी के अनुसार रानडे में "संतों का धैर्य था, वे ढोंग या छद्म से सर्वथा मुक्त थे, और प्रत्येक व्यक्ति असाधारण रूप से उनकी ओर आकर्षित हो जाता था।"

अँगरेजी शिक्षा के कारण दक्षिण भारत में भी अध्यापकों, वकीलों, प्रशासकों और पत्रकारों की एक फौज खड़ी हो रही थी। मद्रास इन गतिविधियों का केन्द्र था। उत्तरभारत में स्थापित 'ब्रह्म समाज', 'आर्य समाज' या 'प्रार्थना समाज' का पूरक एक विदेश-प्रेरित संगठन वहाँ १८७८ में कार्यरत हुआ। डा. एनी बेसेण्ट के सभा-पतित्व में मूल रूप से अमरीका में स्थापित संस्था 'थियो-सोफिकल सोसायटी' की भारतीय शाखा ने उल्लेखनीय कार्य किये हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक अगुआ इस संस्था से अनुप्राणित और सम्बद्ध रहे हैं। सम्पूर्ण भारत में शीघ्र ही इसकी अनेक शाखाएँ फैल गयीं। बनारस का सेंट्रल हिन्दू कालेज और अन्य अनेक शिक्षण संस्थाएँ इसी संगठन की देन हैं।

अपने अनेक धार्मिक-सांस्कृतिक संगठनों की

सम्मिलित शक्ति के बावजूद पराधीन भारत पश्चिम से ललकारती ईसाइयत की चुनौती का उत्तर देने में सक्षम नहीं था। 'ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना समाज', 'आर्य समाज' और 'थियोसोफिकल सोसायटी' जैसे संगठन केवल क्षेत्रीय महत्त्व के होकर रह गये थे। निराश और बिखरी हुई हिन्दू जाति को एक कर देने की उनमें क्षमता नहीं थी। सशंक भारतीय जन-मानस ईसाई धर्म की निष्पत्तियों के समक्ष नत-शिर था। राममोहन राय, केशव सेन, दयानन्द, रानडे प्रभृति महापुरुष अवतार या मसीहा का पर्याय नहीं बन सके। राम, कृष्ण, शंकर, रामानुज, महावीर और बुद्ध के युग का सन्देश धूमिल हो चला था। त्रस्त और पीड़ित भारतीय जनता मुक्ति के किसी मसीहा की तलाश में थी। १७ फरवरी १८३६ को उसकी यह कामना श्रीरामकृष्ण देव के जन्म के साथ ही पूरी हो गयी। रामकृष्ण परमहंस के आविर्भाव से आधुनिक भारत को अपना मसीहा मिल गया, जिसने भारतीय संस्कृति और दर्शन को वेदान्त की पुष्ट पृष्ठभूमि पर प्रस्थापित कर देश के इतिहास को अराजक और दिशाहारा होने से बचा लिया। रोम्याँ रोलाँ ने उनके बृहत्तर व्यक्तित्व में भारत की "तीस करोड़ जनता की दो हजार वर्षों से प्रवहमान आध्यात्मिक आशा-आकांक्षा की परिपूर्णता" देखी। उनकी आत्मिक चेतना आधुनिक भारत का पर्याय है। उन्हें ईश्वर का दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ था। श्री

अरविन्द के अनुसार वे "स्वयं उद्‌भासित एक रहस्यमय योगी थे जिन पर विदेशी विचारों या शिक्षा का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा था"। देश के बुद्धिजीवी वर्ग को स्वयं निरक्षर रहकर भी उन्होंने गति, दिशा और संवेदना प्रदान की। वे सत्य के साकार स्वरूप थे। उनके होंठों से निकलने वाले शब्दों ने चेतना के इतिहास को सर्वाधिक अनुप्राणित किया है। दैवी अनुभूति के जरिये मानव-एकात्म का अद्‌भुत आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है। भारत का कोई भी महापुरुष या लोकजीवन का क्षेत्र उनके विचारों से अछूता नहीं रहा है। प्रज्ञा-पुरुष श्रीरामकृष्ण धरती पर प्रेम के सबसे बड़े देवता थे।

श्रीरामकृष्ण देव को पाश्चात्य संस्कृति के मानवीय तत्त्वों को ग्रहण करने में कोई परहेज नहीं था, लेकिन वे भारतीय जीवन को अतीत की दिव्य आध्यात्मिक परम्पराओं से विलग नहीं होने देना चाहते थे। उनके निर्वाण के बाद उनके प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने "रामकृष्ण मिशन" की स्थापना कर उनके द्वारा बतलाये गये मार्ग पर भारतीयों को चलने का आह्वान किया। स्वामी विवेकानन्द जागृति के इतिहास में भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ राजदूत हैं। उनके लेख और उद्‌बोधन विश्व-साहित्य की गौरवपूर्ण थाती हैं। वे एक ऐतिहासिक प्रवक्ता थे। उन्होंने भारतीय जनता के सदियों से अमूर्त स्वप्नों को साकार किया है। उन्होंने

अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से नये भारत के इतिहास को सर्वाधिक प्रभावित किया है। उन्होंने पराधीन भारत की डूबती हुई क्रियाशीलता को दिशा प्रदान की और देश को अंधी खाइयों के कगार पर जाने से बचा लिया। स्वामी विवेकानन्द ने हमको आँधियों में पाया और फाँसियों से निकाला। डा. राधाकृष्णन् के अनुसार "वे भारतीय पुनर्जागरण के एक महान् नेता थे।" स्वामीजी के उपदेशों ने हमें एक ओर जहाँ आजादी के इस नये युग के लिए तैयार किया है, वहाँ दूसरी ओर अपने उद्बोधनों में उन्होंने मानव की मुक्ति की महानता की कहानी कही है। उनकी गहरी से गहरी व्यथाओं में भी प्रकाश की आत्मा का निवास था। उन्होंने देश की राजनैतिक, सांस्कृतिक गिरावट के विरुद्ध नये सिरे से जेहाद किया। वे राष्ट्र की संघर्षधर्मा चेतना को दृढ़ दार्शनिक आधारों पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि पराधीनता सर्वाधिक गर्हित मनोवैज्ञानिक स्थिति है, अतएव हर कीमत पर उससे छुटकारा पाना श्रेयस्कर है। अपने सम्पूर्ण जीवन को उन्होंने राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दिया था। भारत की पुनर्रचना स्वामी विवेकानन्द के जीवन की परिभाषा थी और इसकी बलिवेदी पर उन्होंने अपने सर्वस्व को न्योछावर कर दिया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के शैशवकाल में ही एक उच्चतर आध्यात्मिक सन्दर्भ में कहे गये स्वामी

विवेकानन्द के शब्दों ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में एक महान् वैचारिक क्रान्ति पैदा की। देश के समस्त वरिष्ठ राजनीतिक योद्धाओं ने उसे एक "महान चुनौती" के रूप में स्वीकार किया, और अन्ततः इन प्राणवान् विचारों को कर्मठ क्रियाशीलता की भाषा में अनुवादित किया गया।

•

एक बार मैं हिमालय के अंचल में यात्रा कर रहा था और सामने लम्बी सड़क का विस्तार था। हम गरीब साधुओं को कोई ढोनेवाला नहीं मिल सकता था, इसलिए पूरा मार्ग पैदल चलकर पार करना था। हम लोगों के साथ एक वृद्ध था।...उसने कहा, "ओह महाशय, इसे कैसे पार किया जाय, मैं अब जरा भी नहीं चल सकता, मेरी छाती फट जायगी।" मैंने उससे कहा, "नीचे अपने पाँवों को देखिये।" उसने ऐसा ही किया, और मैंने कहा, "आपके पाँवों के नीचे जो सड़क है, उसे आप पार कर चुके हैं और आपके सामने जो सड़क दिखायी पड़ रही है वह भी वही है; और वह भी शीघ्र आपके पाँवों के नीचे आ जायगी।" उच्चतम वस्तुएँ तुम्हारे पाँवों के तले हैं, क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो।

—स्वामी विवेकानन्द

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

२९ जनवरी को स्वामीजी ने मेम्फिस में अन्तिम व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था--'तुलनात्मक धर्मविज्ञान'। उसमें उन्होंने इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया कि क्या विभिन्न मतवादों की भाँति धर्मों में भी मतभेद है ? उन्होंने सिद्ध किया कि अब कोई अन्तर नहीं है। सब धर्मों द्वारा की गयी प्रगति का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने उनकी वर्तमान स्थिति की चर्चा की और दिखाया कि प्रारम्भ में ईश्वर की कल्पना के विषय में आदिम मनुष्यों में अवश्य मत-भेद रहा होगा; पर ज्यों ज्यों संसार की नैतिक और बौद्धिक प्रगति होती गयी, त्यों त्यों भेद अधिकाधिक अस्पष्ट होते गये; यहाँ तक कि अन्त में वे पूरी तरह मिट गये और अब एक ही सर्वव्यापी सिद्धान्त बच रहा --और वह है परम अस्तित्व का।

आदिम मानव का धर्म था बहुदेवतावाद। वह भय के कारण पितरों की, प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की--अग्नि की, झंझा-तूफान की, गर्जन के देवता की--पूजा करता था। क्रमशः अधिक शक्तिमान् पुरुष का स्वरूप उसके सामने उपस्थित हुआ-- "सूर्योदय का सौन्दर्य, सूर्यास्त की गरिमा, तारों से जड़ी हुई रात का रहस्यमय

रूप, घन नाद और विद्युल्लता इस सबके वैचित्र्य ने उसे इतना अधिक प्रभावित किया कि वह उसे समझ नहीं सका और उसने एक अन्य उच्चतर और शक्तिमान् व्यक्ति की कल्पना की जो उसकी आँखों के सामने फैली हुई अनन्तताओं को संचालित करता है।

बाद में एक और युग आया——एकेश्वरवाद का युग। सभी देवता मानो एक में समाकर खो गये और उस एक को ईश्वरों का ईश्वर, इस विश्व का स्वामी माना गया। आर्यजाति का इस काल तक का इतिहास बतलाते हुए स्वामीजी ने कहा——"हम परमेश्वर में जीते और चलते हैं। वह गति है।" इसके बाद का युग था——सर्वेश्वरवाद का युग। आर्यजाति ने बहुदेवतावाद और एकेश्वरवाद को नहीं माना। इस कल्पना को भी नहीं माना कि ईश्वर ही विश्व है, पर उसने यह घोषित किया कि "मेरी आत्मा की आत्मा ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है।" . . .

बौद्ध धर्म और इस्लाम की संक्षिप्त चर्चा करने के पश्चात् उन्होंने कहा——"दूसरा प्रश्न जो उपस्थित होता है वह यह कि क्या सब धर्म सत्य हैं अथवा कुछ सत्य हैं और कुछ असत्य ? सभी धर्म एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अस्तित्व निरुपाधिक और अनन्त है। एकत्व ही धर्म का उद्देश्य है। जगत् का सब ओर दीखनेवाला नानात्व इसी एकत्व की अनन्त विविधता है। धर्म के विश्लेषण से पता चलता है कि मनुष्य असत्य से सत्य

की ओर नहीं जाता, वरन् निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाता है ।

"एक आदमी बहुत से आदमियों के बीच एक कोट लेकर आता है । कुछ लोग कहते हैं कि यह कोट उनको ठीक नहीं होता । ऐसा ! तब तो तुम निकल जाओ; तुम कोट नहीं पहन सकते ! किसी ईसाई पादरी से पूछो कि जो सारे सम्प्रदाय उसके सिद्धान्तों और मतों से मेल नहीं खाते, जो उसके सिद्धान्त और मतों के विरुद्ध हैं, वे कैसे हैं ? तो वह उत्तर देगा—"ओह ! वे ईसाई नहीं हैं ।" परन्तु हमारे यहाँ इससे श्रेष्ठ शिक्षा दी जाती है । हमारा अपना स्वभाव, प्रेम और विज्ञान हमें अधिक अच्छी शिक्षा देते हैं । नदी में उठनेवाली लहरियों को हटा दो, तो पानी रुककर सड़ने लगेगा । मत-वैचित्र्य को नष्ट कर डालो तो विचारों की हत्या हो जायेगी । गति आवश्यक है । विचार मन की गति है और जब वह रुक जाता है तो मृत्यु की शुरुआत हो जाती है ।

"यदि पानी के गिलास की तली में हवा का एक बुलबुला रख दो तो वह तुरन्त ऊपर के अनन्त वातावरण से मिलने के लिए संघर्ष करने लगता है । आत्मा की भी वही दशा है । वह भी छटपटा रहा है—अपने शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त करने के लिए और अपने भौतिक शरीर से मुक्त होने के लिए । वह अपना अनन्त विस्तार पुनः प्राप्त करना चाहता है । सब जगह यही होता है ।

ईसाई, बौद्ध, मुसलमान, अज्ञेयवादी या पुरोहित सब में आत्मा निरन्तर संघर्षशील है। एक नदी पर्वत का चक्कर लगाते हुए हजारों मील बहती है तब जाकर समुद्र को मिलती है; और एक आदमी खड़ा होकर कहता है, 'ओ नदी ! तुम वापस जाओ और नये सिरे से शुरू करो तथा कोई अधिक सीधा रास्ता अपनाओ ।' ऐसा आदमी मूर्ख है । तुम वह नदी हो जो जॉयन (zion) की ऊँचाइयों से बहती आ रही है । मैं हिमालय की ऊँची चोटियों से बहता आ रहा हूँ । मैं तुमसे नहीं कहता कि वापस जाओ और मेरी ही तरह नीचे आओ; नहीं कहता कि तुम गलती पर हो । ऐसा कहना अधिक मूर्खता होगी । अपने विश्वासों से चिपटे रहो । सत्य कभी नष्ट नहीं होता । पुस्तकें चाहे नष्ट हो जायँ, राष्ट्र चकनाचूर हो जायँ, पर सत्य सुरक्षित रहता है जिसे कोई व्यक्ति उठाता है और समाज को पुनः देता है, और इस प्रकार परमेश्वर की अनुभूति की महान और अविच्छिन्न परम्परा स्थापित होती है ।''

दूसरे दिन अर्थात् २२ जनवरी को स्वामीजी मेम्फिस में एक हफ्ते से कुछ अधिक समय बिताकर शिकागो के लिए रवाना हुए । धर्ममहासभा के पश्चात् ये चार माह अनवरत परिश्रम में व्यतीत हुए । अक्तूबर और नवम्बर का महीना उन्होंने शिकागो तथा उसके आसपास वक्तृता देने में बिताया था । नवम्बर के अन्त में लेक्चर ब्यूरो द्वारा अनुबन्धित होकर उन्होंने मध्य-पश्चिमी

अंचल की यात्रा की थी। प्रथम सप्ताह में उन्होंने मैडिसन, मिनियापॉलिस तथा डेसमॉइन्स में भाषण दिये थे, उसके बाद के छः हफ्तों का वृत्तान्त नहीं मिलता। पर इतना अवश्य है कि जिस गति से उनकी यात्रा हो रही थी उसके अनुसार उन्होंने इस छोटे से अर्से में कम से कम पन्द्रह नगरों को अपने प्रभावशाली व्याख्यानों से चमत्कृत जरूर किया होगा। उनकी इन कष्टसाध्य यात्राओं का किंचित् अनुमान उनके द्वारा स्वामी रामकृष्णानन्द को दिनांक १९ मार्च १८९४ को लिखे पत्र से हो सकता है——"जाड़े की क्या बात कहूँ? समूचा देश दो-तीन हाथ और कहीं कहीं तो चार-पाँच हाथ गहरे बर्फ से ढँक जाता है।... पारा शून्य से ४०-५० डिग्री तक नीचे चला जाता है। उत्तरी हिस्से में जहाँ कनाडा है, पारा जम जाता है। उस समय मद्यसार का तापमापक यंत्र काम में लाया जाता है। जब बहुत ही ठंडक होती है, अर्थात् जब पारा २० डिग्री के नीचे रहता है, तब बर्फ नहीं गिरती।... अत्यधिक ठंडक में एक तरह का नशा हो जाता है। गाड़ियाँ उस समय नहीं चलतीं; बिना पहिये का स्लेज नामक यान घसीटा जाता है। सब कुछ जमकर सख्त हो जाता है——नदी, नाले और झील पर से हाथी भी चल सकता है। नियाग्रा का प्रचण्ड प्रवाहवाला विशाल प्रपात जमकर पत्थर हो गया है। परन्तु मैं अच्छी तरह हूँ। पहले थोड़ा डर मालूम होता था। पर अब तो गरज के मारे

रेल से एक दिन कनाडा के पास, तो दूसरे दिन अमेरिका के दक्षिण भाग में व्याख्यान देता फिरता हूँ ।... बड़ा डर था कि मेरे नाक और कान गिर जायेंगे, पर आज तक कुछ नहीं हुआ ।" ...

यह तो शारीरिक कष्ट की बात हुई, मानसिक यंत्रणा भी उन्हें कम झेलनी न पड़ी । लेक्चर ब्यूरो द्वारा भाषण के कुछ विषय निश्चित कर लिये गये थे —'मनुष्य का देवत्व', 'भारत के रीति-रिवाज', 'हमारी सांस्कृतिक परम्परा' आदि । विशेषकर खनिज-व्यापार के क्षेत्रों में आयोजकों द्वारा भाषण के लिए कठिन विषयों का चयन किया जाता । स्वाभाविक था कि ऐसे स्थानों में बौद्धिक वर्ग की विरलता पायी जाती । स्वामीजी ने परवर्ती काल में भगिनी क्रिस्टीन से इसका उल्लेख करते हुए कहा था—"ऐसे लोगों के बीच बोलना जहाँ बौद्धिक प्रकाश का पूर्णतया अभाव हो, अत्यन्त कठिन और दुःसाध्य कार्य था ।"

लेक्चर ब्यूरो की उनके बारे में विज्ञापनबाजी, उनके जैसे प्रचार और दिखावे से कोसों दूर रहनेवाले व्यक्ति के लिए कम यंत्रणादायक नहीं थी । रोम्याँ रोलाँ ने 'प्रॉफेट ऑफ न्यू इंडिया' में इसका जिक्र करते हुए लिखा है—'लेक्चर ब्यूरो का उनके बारे में प्रचार-कार्य ठीक वैसा ही था जैसा सर्कस के किसी अभिनेता का होता है ।' श्रीमती बर्क 'न्यू डिस्कवरी' में लिखती हैं— "मानसपटल पर स्वामीजी का जो चित्र उभरता है वह

यह—हफ्तों तक प्रत्येक स्थान में मात्र एक रात बिताते हुए, कड़कड़ाती ठंड में यात्राओं की सारी कठिनाइयों को झेलते हुए, पैसों और सामानों का हिसाब रखते हुए, छोटे नगरों में बहुधा श्रोताओं के शून्य और पाषाणवत् चेहरों का सामना करते हुए तथा 'मानव की दिव्यता' जैसे विषय पर भाषण देने के उपरान्त मगर के मुख में सद्योजात हिन्दू बच्चों को डालने सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुए—यह एक भयावह कल्पना आँखों के सामने आ खड़ी होती है।"

हेल बहनों को उन्होंने १२ मार्च, १८९४ को लिखा था—"मैं व्याख्यान देते देते और इस प्रकार के निरर्थक वादों से थक गया हूँ। सैकड़ों प्रकार के मानवीय पशुओं से मिलते मिलते मेरा मन अशान्त हो गया है। ..."

पर ऐसी बात नहीं कि उन्हें सर्वदा हृदयहीन और भावनाविहीन, मानव-पशुओं का ही सामना करना पड़ा हो। कुछ ऐसे भी लोग उन्हें बीच बीच में मिलते रहे जिनके निर्मल पवित्र चरित्र ने मरुस्थल में हरित-भूमि की नाईं उन्हें शान्ति और आह्लाद प्रदान किया था। ऐसे ही एक निर्मल व्यक्तित्व के बारे में उन्होंने १७ मार्च, १८९४ को हेल बहनों में से एक को लिखा था—"यहाँ एक बहुत सुन्दर लड़की है। मैं उससे दो बार मिला। नाम मैं उसका भूल रहा हूँ। पर इतनी बुद्धिमान् और सुन्दर, इतनी आध्यात्मिक और

असांसारिक ! प्रभु उस पर कृपा रखें । आज सबेरे वह श्रीमती मैक्डच्यूवेल के साथ आयी और इतनी सुन्दरता और आध्यात्मिक गम्भीरता से उसने बातें कीं कि मैं तो चकित रह गया । वह योगियों के बारे में सभी बातें जानती है और साधना में काफी आगे बढ़ चुकी है !

" तेरी लीला अपरम्पार है, प्रभो ! तू उस अत्यन्त सरल, पवित्र और निर्मल बाला पर कृपा कर । मेरे इस भीषण कठोर और कष्टप्रद जीवन का यही महान् पुरस्कार है कि समय समय पर मुझे तुम-जैसी पवित्र और प्रफुल्लित लोगों के दर्शन हो जाया करते हैं । बौद्धों की एक प्रमुख प्रार्थना है—'संसार के समस्त पवित्र मनुष्यों के समक्ष मैं नतमस्तक हूँ ।' जब कभी भी मैं ऐसा चेहरा देखता हूँ जिस पर परमात्मा ने अपनी अँगुली से सुस्पष्ट 'मेरा' शब्द लिख रखा है, तो मुझे उक्त प्रार्थना के सही अर्थ का अनुभव होता है । तुम सब सदा सदा के लिए प्रसन्न, सुखी, शुद्ध और पवित्र रहो । तुम्हारे चरण कभी इस भयावह संसार के पंक और धूल में न पड़ें । फूलों की तरह जिस प्रकार पैदा हुई हो उसी प्रकार जीवन बिताओ और बिदा हो जाओ । यही तुम्हारे भाई की सतत प्रार्थना है ।"

—विवेकानन्द

पवित्र, निर्मल और विशुद्ध चरित्र से युक्त ये हेल बहनें स्वामीजी द्वारा चिर प्रशंसित रहीं । उनका भी

स्वामीजी के प्रति अनुपम स्नेह, श्रद्धा और भक्ति थी। स्वामीजी उनके स्नेही भ्राता, प्रिय सखा और परम सुहृद थे। श्री तथा श्रीमती हेल भी स्वामीजी से पुत्रवत् स्नेह करते। उनका घर स्वामीजी का शिकागो का स्थाई निवास था। स्वामीजी की सारी डाक उनके घर के पते पर आती। उनका परिचय देते हुए स्वामीजी ने स्वामी रामकृष्णानन्द को २५ सितम्बर, १८९४ को लिखा था—"जिन जी. डब्ल्यू. हेल के पते पर तुम चिट्ठियाँ भेजते हो उनकी भी कुछ बातें लिखता हूँ। वे वृद्ध हैं और उनकी वृद्धा पत्नी हैं। दो कन्याएँ हैं, दो भानजियाँ और एक लड़का। लड़का नौकरी करता है। इसलिए उसे दूसरी जगह रहना पड़ता है। लड़कियाँ घर पर रहती हैं। ... चारों कन्याएँ युवती और अविवाहित हैं। ... रूपवती हैं, बड़े आदमी की पुत्रियाँ हैं। विश्वविद्यालय की छात्राएँ हैं, नाचने-गाने और पियानो बजाने में अद्वितीय हैं। कितने ही लड़के चक्कर मारते हैं लेकिन उनकी नजर में नहीं चढते। जान पड़ता है वे विवाह नहीं करेंगी, तिस पर मेरे सम्पर्क में आने के कारण वे अब वैराग्य से पूर्ण हैं तथा ब्रह्म-चिन्तन में मग्न हैं।

"मेरी और हेरियट हेल कन्याओं के नाम हैं तथा ईसाब्रेल मेक्किंडले और हेरियट मेक्किंडले भानजियों के। दोनों कन्याओं के बाल सुनहरे हैं तथा दोनों भानजियों के काले। वे सभी प्रकार के कार्य जानती हैं। भानजियों

के पास उतना धन नहीं है । वे एक किण्डरगार्टन स्कूल चलाती हैं । लेकिन कन्याएँ कुछ नहीं कमातीं ।... वे मुझे भाई कहती हैं, मैं उनकी माँ को माँ कहता हूँ। मेरा सब सामान उन्हीं के घर में है। मैं कहीं भी जाऊँ, वे उसकी देखभाल करती हैं ।...''

सचमुच में ये लड़कियाँ ही स्वामीजी की सारी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखतीं । उनके लिए सामान खरीदना, उनके लिए आये पत्रों को यथास्थान भेजना, उनके द्वारा बताये कार्यों को सम्पादित करना इनका प्रिय कार्य था और इसमें उन्हें प्रसन्नता का अनुभव होता था । स्वामीजी ने भी इन्हें अपना समझकर अपने व्यक्तिगत कार्यों का भार इन पर छोड़ दिया था । इसकी झलक स्वामीजी द्वारा उन्हें लिखे कतिपय पत्रों से मिलती है ।

ईसाबेल मेक्किंडली को उन्होंने १७, मार्च १८९४ को लिखा था--''तुम्हारा पैकेट मुझे कल मिला । तुमने मोजे नाहक भेजे । वह तो मैं यहाँ स्वयं ही कहीं ले लेता । पर हर्ष की बात है यह तुम्हारे स्नेह को व्यक्त करता है ...।'' मेरी हेल को उन्होंने सहस्रद्वीपोद्यान से लिखा-- ''भारत से आयी डाक के लिए बहुत बहुत धन्यवाद । तुम्हारे प्रति अपना आभार शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता । तुमने मैक्समूलर के 'अमरत्व' पर निबन्ध को पढ़ा होगा जिसे मैंने मदरचर्च को भेजा था --वे सोचते हैं कि हम इस जीवन में जिन्हें प्यार

करते हैं, उन्हें हमने अतीत में भी प्यार किया होगा। इसीलिए ऐसा लगता है कि मैं पूर्व जीवन में इस पवित्र परिवार का रहा होऊँगा। मैं भारत से कुछ पुस्तकों की आशा कर रहा हूँ। आशा है, वे पहुँच गयी होंगी। अगर आ गयी हों तो कृपया उन्हें यहाँ भेज दो। अगर कुछ डाक खर्च देना हो, तो मैं सूचना मिलते ही भेज दूंगा। तुमने उस कम्बल पर चुंगी के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। खेतड़ी से दरी, शाल, जरीदार कपड़े और कुछ छोटी-मोटी चीजों का पुनः एक बड़ा पैकेट आने वाला है। मैंने उन्हें लिख दिया है कि अगर सम्भव हो तो बम्बई में ही अमेरिकन वाणिज्य दूत के द्वारा कर चुकाने की व्यवस्था कर दें। अगर नहीं, तो मुझे यहाँ चुकाना पड़ेगा। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि कुछ महीनों में ही वे वस्तुएँ यहाँ आ सकेंगी। मैं पुस्तकों के लिए उत्सुक हूँ। कृपया पहुँचते ही उन्हें यहाँ भेज दो . . .।" उसी को उन्होंने मार्च १८९६ को लिखा था—"मुझे भय है कि तुम रुष्ट हो और इसीलिए तुमने मेरे किसी भी पत्र का उत्तर नहीं दिया। अब में लाख बार क्षमा माँगता हूँ। बड़े भाग्य से मुझे भगवा वस्त्र मिल गया और जितनी जल्दी हो सकेगा मैं एक कोट बनवा लूँगा। मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि तुमने श्रीमती बुल से भेंट की। वे एक बहुत ही भद्र महिला और दयालु मित्र हैं। बहन! घर में संस्कृत की दो बहुत पतली पुस्तिकाएँ हैं। यदि तुम्हें कोई कठिनाई न

हो, तो उन्हें कृपया भेज दो। भारत से पुस्तकें सुरक्षित पहुँच गयीं और मुझे उनके लिए कोई चुंगी नहीं देनी पड़ी। मुझे आश्चर्य है कि कम्वल अभी तक क्यों नहीं आये।..."

मेरी हेल को ही ३० मार्च-१८९४ को लिखा--
"...अभी अभी तुम्हारा और मदरचर्च का पत्र साथ ही मिला, जिसमें रुपये-प्राप्ति की सूचना थी। खेतड़ी का पत्र पाकर मैं बहुत खुश हूँ। उसे मैं तुम्हें पढ़ने के लिए भेज रहा हूँ। इस पत्र से तुम्हें मालूम होगा कि वे समाचार-पत्रों की कुछ कतरनें चाहते हैं। डिट्रॉयट पत्रों की कतरनों के अतिरिक्त, मेरी समझ में, मेरे पास और कुछ नहीं है। इन्हें मैं उनके पास भेज दूंगा। अगर तुम्हें किन्हीं अन्य पत्रों से कुछ मिल सके, तो उनमें से कुछ उनको कृपया भेज देना, अगर आसानी से सम्भव हो तो ...। मैं शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार से स्वस्थ हूँ। मेरी प्रिय बह्नो! तुम सबको सतत आनन्द की प्राप्ति हो। हाँ, श्रीमती शर्मन ने मुझे अनेक वस्तुएँ भेंट में दी हैं, जैसे 'लेटर-होल्डर', 'नेल-सेट' और एक छोटा सा थैला, आदि आदि। यद्यपि मैंने आपत्ति की, विशेषतया नेल-सेट को लेने से, जिसकी सीप की मूठ बहुत तड़क-भड़क वाली है, परन्तु उन्होंने आग्रह किया और मुझे लेना पड़ा, हालाँकि मेरी समझ में नहीं आता कि यह ब्रश करनेवाला यंत्र मेरे किस काम आयेगा। ईश्वर उन सबका कल्याण करे!

उन्होंने मुझे एक परामर्श दिया--इस अफ्रीकी पोशाक को समाज में कभी न पहनूं। अब मैं एक समाज का मनुष्य जो हो गया हूँ! हे भगवन्! अब आगे क्या होने वाला है? दीर्घजीवन में विचित्र विचित्र अनुभव होते हैं। मेरा अमित स्नेह तुम सब--मेरे पवित्र परिवार--के लिए।"

--विवेकानन्द

(क्रमशः)

•

आध्यात्मिक जीवन : साधना और सिद्धि

कुमारी सरोज बाला

(प्रखर मेधासम्पन्न इस बालिका का जन्म १ नवम्बर, १९५६ ई. को हुआ है। कहते हैं कि छः वर्ष की उम्र से ही इन्होंने प्रवचन देना आरम्भ कर दिया। आश्रम में इनके कई प्रवचन हो चुके हैं और उनमें से अधिकांश टेप-रिकार्ड कर लिये गये हैं। उन्होंने आश्रम में १६-९-१९६६ को अपना पहला प्रवचन दिया था, जिसकी पहली किश्त प्रस्तुत लेख के रूप में पाठकों के समक्ष रखी जा रही है। उनके मुख से निकले शब्दों को ज्यों का त्यों ही रखने का प्रयास किया गया है। — सं.)

'राम भजन बिनु सुनहु खगेसा।
मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा ।।

सज्जनो ! जब तक हम राम नाम का भजन नहीं करेंगे, संकीर्तन नहीं करेंगे, तब तक हमारे जीवन के क्लेशों और अपार दुःखों का विनाश होना बहुत ही मुश्किल है, "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम्" से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है; और दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से भी बचना बहुत ही मुश्किल है। यों तो इन दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से बचने के लिये तथा आवागमन के चक्करों से छूटने के लिये हमारे शास्त्रों में अनेकानेक साधन बताये गये हैं, परन्तु हम अल्पशक्ति, अल्पायु और अल्पबुद्धि कलियुगी पुरुषों से इन साधनों का

बनना बहुत ही कठिन है। आज हम सब लोगों का बड़ा ही सौभाग्य है कि हम उस जगन्नियन्ता, जगदाधार, अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिनायक, परमपिता परमेश्वर, सर्वेश्वर, विश्वेश्वर, अखिलेश्वर, परमप्रेमास्पद प्रभु के पावन चरित्र का श्रवण करने के लिये इस पवित्र भूमि में उपस्थित हुए हैं। आज हमें अपने जीवन के अलौकिक आनन्द को प्राप्त करने का, अथवा यों कहिये कि मानवजीवन को सफल बनाने का एक बहुत ही सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है।

हमारे शास्त्रों में मानवजीवन को तीन भेदों में विभाजित किया गया है जिनमें मनुष्य अपने जीवन को पूर्णतः विकसित कर सकता है। ये तीन भेद हैं---पहला आधिभौतिक जीवन, दूसरा मानसिक जीवन और तीसरा आध्यात्मिक जीवन। आधिभौतिक जीवन वह जीवन है जिसमें खाना, पीना, सोना, बाल्य, युवा, जरा, रोग इत्यादि का सम्बन्ध इस स्थूल शरीर से होता है। मानसिक जीवन वह जीवन है जिसमें मन हमेशा चिन्ताओं और राग-द्वेषों से भरा रहता है तथा जिसमें वासना, तृष्णा और संकल्प का सम्बन्ध इस शरीर से होता है। और, आध्यात्मिक जीवन वह जीवन है जिसमें मनुष्य को संसार की नश्वरता का ज्ञान हो जाता है कि यह संसार झूठा और स्वप्नवत् है। भगवान् शंकर कहते हैं—'उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।' जब

मानव को ऐसा ज्ञान हो जाता है तब उसमें परमात्मा को पहचानने और उनको प्राप्त करने के लिये व्यग्रता और व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। तब उस मानव में सत्य, अहिंसा, धीरता, प्रेम, परोपकार इत्यादि समस्त गुणों का सहज ही आविर्भाव हो जाता है और वह अपने जीवन को आध्यात्मिक बनाकर कृतकृत्य हो जाता है तथा भवार्णव से पार हो जाता है। वास्तव में यह आध्यात्मिक जीवन ही सर्वश्रेष्ठ कोटि का है जिसमें संसार के बाह्य कर्मों को करते हुए भी मन हमेशा उसी एक परमतत्त्व में लगा रहता है और इसी जीवन के आधार पर मानव अजर और अमर हो सकता है। भोग-विलास या ऐश-आराम से अजरता और अमरता की प्राप्ति नही हो सकती। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, "हे उद्धव! इस मानव-शरीर को प्राप्त कर भोग-विलास, ऐश-आराम की सामग्रियों को इकट्ठा करने में जीवन की सफलता नहीं है, अपितु यह आध्यात्मिक जीवन ही सर्वश्रेष्ठ कोटि का जीवन है तथा इसी के आधार पर मानव अजर और अमर हो सकता है।"

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक आख्यायिका आती है। जिस समय याज्ञवल्क्यजी गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास-आश्रम में जाने लगे तब उन्होंने एक दिन मैत्रेयी को बुलाया और कहा, "हे मैत्रेयी! मैं अब गृहस्थाश्रम से संन्यास-आश्रम में जाना चाहता हूँ।

अतः मैं तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ और जितनी भी धन-सम्पति है उसका बँटवारा कर देना चाहता हूँ।" यह सुनकर मैत्रेयी हाथ जोड़कर बोली, "नाथ ! अगर धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं अजरता और अमरता की प्राप्ति कर सकती हूँ ?" तब याज्ञवल्क्य बोले, "यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति।" अर्थात् "हे मैत्रेयी ! धन से अजरता और अमरता की प्राप्ति नहीं हो सकती। धन से सम्पन्न मनुष्यों का जीवन जैसा हो जाता है वैसा ही धन के द्वारा तुम्हारा जीवन भी हो जायेगा।" यह सुनकर मैत्रेयी हाथ जोड़कर बोली, "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति"— "हे नाथ ! जब मैं धन के द्वारा अजर और अमर नहीं हो सकती तब फिर मुझे धन लेकर क्या करना है ? मुझे धन-सम्पत्ति नहीं चाहिये। जिससे अमरत्व की प्राप्ति हो वही साधन मुझे बताइये।" यह सुनकर याज्ञवल्क्य जी बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयी आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्"— "हे मैत्रेयी ! यह आत्मा स्वयं ही श्रवणीय, मननीय और ध्यान किया जाने योग्य है। इस आत्मा के श्रवण, दर्शन और ध्यान से ही मानव सब कुछ जान सकता है।"

यह संसार तो भगवान् की आज्ञा से माया के द्वारा निर्माण किया गया एक चित्ताकर्षक बगीचा है जिसमें आकर जीव अनेकों प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करता है। लेकिन यह संसार प्रेम करने योग्य नहीं है। जैसे हम छुट्टियों के दिन बगीचों में घूमने जाते हैं और वहाँ सुन्दर सुन्दर पुष्पों को देखकर मन ही मन मुस्कराते हैं, हम कहते हैं—"धन्य हो वह बागवान जिसने इतने सुन्दर पुष्प लगाये जिनकी सुगन्ध से चित्त मोहित हो जाता है"; ठीक इसी तरह से यह संसार भी एक चित्ताकर्षक उद्यान है जहाँ अनेक प्रकार की सुख की सामग्रियाँ विद्यमान हैं। जो स्थूलदर्शी मनुष्य होते हैं वे इस संसार को देखकर इसमें फँस जाते हैं और इससे प्रेम करने लगते हैं। परन्तु सज्जनो ! यह संसार प्रेम करने योग्य नहीं है। प्रेम तो उस परमपिता परमात्मा से करो जो प्रेम और सुख इन दोनों का दाता है। अगर संसार के प्रति प्रेम करोगे तो अन्ततोगत्वा दुःख ही मिलेगा। इसलिए संसार में रहो पर यह भावना रखो कि—

दुनिया में हूँ, दुनिया का तरफदार नहीं हूँ।
बाजार से गुजरा हूँ, खरीदार नहीं हूँ॥

—इस दुनिया में मुझे जन्म तो मिला है पर मैं दुनिया की आसक्ति में नहीं हूँ। दुनिया मुझे बाँध नहीं सकती। यह भावना रखो और संसार के प्रति गौण प्रेम रखो। महान् पुण्यों के उदय होने के बाद हमें यह जो मानव-जीवन मिला है उसे आध्यात्मिक बनाना ही हम सब लोगों

का कर्तव्य है ।

अब यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि हम अपने जीवन को आध्यात्मिक कैसे बनायें। जीवन को आध्यात्मिक बनाने के अनेक साधन हैं। पहला साधन है श्रवण, मतलब सत्संग। जिस प्रकार गंगाजी के जल का प्रवाह निरन्तर अखण्ड रूप से महासागर की ओर बढ़ता रहता है, ठीक इसी तरह परमात्मा की अपरम्पार लीलाओं के श्रवण मात्र से मन की गति अविच्छिन्न रूप से परमात्मा के चरणों के प्रति होने लगती है और मन भगवन्नाम-स्मरण में लगने लगता है। इस प्रकार हम अपने जीवन को आध्यात्मिक बना सकते हैं।

गोस्वामीजी लिखते हैं कि "कलिजुग जोग न जज्ञ न ध्याना, एक अधार राम गुन गाना", अर्थात् इस कलियुग में न योग बन सकता है, न यज्ञ बन सकता है और न ध्यान बन सकता है। परन्तु हमारे कुछ भाई ध्यानयोग के भी शौकीन होते हैं। इसलिए मैं उनके लिये कुछ ध्यान की क्रिया बता दूं कि ध्यान कैसे करना चाहिए। श्री उद्धवजी ने भगवान् कृष्ण से पूछा—

यथा त्वाम् अरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मके ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि ।।

——आप किन भावों से ध्यान करने से मुमुक्षुओं को प्राप्त होते हैं ? तब भगवान् ने कहा——

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्संग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणाः ।।

--हे उद्धव! जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो, इसप्रकार के समान आसन पर शरीर को सीधा करके आराम से बैठ जाओ। हाथ को अपनी गोद में रख लो। दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में जमाओ। फिर--

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरककुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्य सेन्निर्जिते इन्द्रियः।।

--पूरक, कुम्भक, रेचक और रेचक, कुम्भक, पूरक प्राणायामों के द्वारा नाड़ियों का शोधन करो; इस तरह प्राणायाम का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाओ, लेकिन साथ ही साथ इन्द्रियों को जीतने का भी अभ्यास करो। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि विषयों से इन्द्रियों को रोको, क्योंकि ये पाँचों विषय इतने भयंकर हैं कि पाँचों की कौन कहे एक ही विषय में फँसकर अनेक जीव मृत्यु के घाट उतर जाते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं--

अलि पतंग मृग मीन गज जरत एक ही आँच।
तुलसी वे कैसे जियें जिन्हें सतावें पाँच।।

कुरंगमातंगपतंगभृंगा मीना हताः पञ्चभिरैव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरैव पञ्च।।

--देखा? हिरण एक कर्णेन्द्रिय के विषय में फँसकर अपने प्राणों को त्याग देता है। उसे पकड़नेवाले बहेलिये जंगल में जाकर बड़े ही मीठे स्वर से वंशी बजाते हैं और वह मृग उसे सुनकर वहीं खड़ा हो जाता है, उसे अपने शरीर का ध्यान नहीं रहता। फिर चाहे उसे

मारे या बेधे। उसी प्रकार हाथी भी स्पर्श-इन्द्रिय के विषय में फँसकर अपने प्राणों का त्याग कर देता है। पतंगियाँ जहाँ कहीं चिराग या बिजली जलती हुई देखती हैं, दौड़कर जाती हैं और उससे लिपटकर अपने प्राणों को त्याग देती हैं। वे नेत्रेन्द्रिय के विषय में फँस-कर अपने प्राण त्यागती हैं। इसीप्रकार भौंरा नासिका-इन्द्रिय के विषय में फँसकर अपने प्राणों को त्याग देता है। वह कमल की सुगन्ध लेने के लिये जाता है। सूर्य के अस्त होते ही वह कमल सम्पुटित हो जाता है और सबेरा होते होते वह भौंरा उसी में मर जाता है। मछली रसनेन्द्रिय के विषय में फँसती है क्योंकि मछली पकड़ने वाले काँटे में कुछ खाने की वस्तु लगाकर जल में फेंकते हैं। जब मछली उसे देखती है तब उसे खाने के लिए दौड़ती है और उसी में अपना मख लगा देती है जिससे काँटे में उसका मुख फँस जाता है और वह अपने प्राणों को त्याग देती है। जब ये एक ही एक विषय में फँसकर अपने प्राणों को त्याग देते हैं तो गोस्वामीजी कहते हैं कि वे कैसे जीवित रह सकते हैं जिन्हें ये पाँचों विषय सताते हैं। पाँचों विषय किसे सताते हैं ? मानव को। मानव तो शब्द भी सुनना चाहता है, सुन्दर सुन्दर सिनेमा के गाने भी सुनना चाहता है, नेत्रों से सुरूप भी देखना चाहता है, शरीर से स्पर्श भी करना चाहता है, सुन्दर पूड़ी-कचौड़ी, हलुआ, मेवा, मिष्टान्न आदि भी खाना चाहता है और नासिका से गुलाब, केवड़ा आदि

इत्र भी संघना चाहता है। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं कि वह कैसे जीवित रह सकता है ? वह तो बहुत ही जल्दी 'राम नाम सत्त है, सत की यही गत्त है' के घाट उतर जायेगा। इसलिये विषयों को रोको। जिस तरह साँस की गति निरन्तर अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है तथा उसमें कभी भी विराम नहीं होता, इसी तरह परमात्मा की प्राप्ति के साधन भी सदा-सर्वदा तैलधारावत् चलते रहना चाहिए। जो हमेशा भगवन्नाम-संकीर्तन करता है, वह परमपिता परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है, क्योंकि भगवान् स्वयं गीताजी में कहते हैं——

यं यं वापि स्मरंभावं त्यजतन्ते कलेवरं।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

——मृत्यु के समय मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता है, उसको वही प्राप्त होता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि हम सारे जीवन भर जिस वस्तु को रटेंगे, वही मृत्यु के समय भी ध्यान में आयेगी।

एक सुनार था। उसने सारे जीवन भर 'सोना-सोना' रटा था। एक समय वह बहुत ही बीमार पड़ा और तीन-चार महीनों तक बाजार न जा सका। उसने कुछ सोना ले रखा था। एक दिन उसे बहुत जोर का बुखार आया। तब सुनार के लड़कों ने डाक्टर बुलाया। डाक्टर ने थर्मामीटर लगाकर देखा और कहा, "भाई, १०५ है, १०५!" डाक्टर ने तो कहा कि १०५ डिग्री ताप

है, लेकिन सुनार ने तो सारे जीवन भर 'सोना-सोना' रटा था। उसे यही ध्यान आया कि डाक्टर कहता है कि १०५ सोने का भाव है। वह जोर से चिल्लाकर अपने लड़कों से बोला, "अरे! मैंने अस्सी रुपये के भाव से सोना लिया था। बहुत नफा होगा। बेच डालो, बेच डालो, बेच डालो।"—और ऐसा कहते कहते सुनार के प्राण निकल गये।

कहने का मतलब यह है कि जिस वस्तु को सारे जीवन भर रटोगे, वही मृत्यु के समय ध्यान में आयेगी। फिर उसी योनि में जाना पड़ेगा। हमारे सामने महान् योगी जड़ भरत का प्रमाण प्रत्यक्ष है। एक महान् योगी होने पर भी उन्हें एक हिरण के बच्चे पर आसक्ति हो गयी और दूसरे जन्म में उन्हें हिरण ही बनना पड़ा। इसलिए सज्जनो, अगर विषयों से मुक्ति चाहते हो तो तन, मन और वचन से भगवत्समर्पित कर्म करो। तन से भगवान् की सेवा करो, मन से भगवान् का ध्यान करो और जिह्वा से प्रभु का स्मरण करो। नाम के स्मरणमात्र से ही श्रीहनुमान जी ने भगवान् को अपने वश में कर लिया था— "सुमिर पवनसुत पावन नामू, अपने वश कर लीनत रामू।" भगवान् तो गीताजी में स्वयं कहते हैं कि जो मानव हमेशा मेरे नाम का कीर्तन करता है, मेरा भजन करता है, मेरे चरणों में प्रेम करता है, मैं उसके लिए बहुत सुलभ हो जाता हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्यमुक्तस्य योगिनः ।।

'विषय' शब्द का अर्थ स्वयं इस बात को घोषित करता है कि बार बार विषयों का सेवन करनेवाले मनुष्य को विषय अपने अधीन कर लेते हैं । इसलिए तन, मन और वचन से विषयों से छूटने के साधन करो । मन को कन्ट्रोल करो, वश में करो । परन्तु आजकल मानव साधारण सी चीजें भी नहीं छोड़ पाता, फिर मन कैसे वश में हो सकता है ?

"गाँजा अफीम या भंग चरस सिगरेट शराब पीने वाले ।
इन विषयों को जो न छोड़ सके,
मन वश में करना क्या जानें ।"

परन्तु एक कवि चेतावनी भी दे रहा है—

"देख रहा व्यूह व्यापक आपके दूषण दोष सभी हथकण्डे ।
अर्थ अनर्थ के हेतु नहीं बनते फिर व्यर्थ कुपन्थ के पण्डे ।।
तत्त्व का ज्ञान करो मनुजत्व का
अन्यथा हैं यमराज के डण्डे ।"

जब यमराज के डण्डे पड़ेंगे तो सभी विषय भूल जायेंगे, शराब, अण्डे सभी भूल जायेंगे। इसलिए अभी समय है । अभी भगवान् का ध्यान कर लो, प्रभु का भजन कर लो, प्रभु के नाम का स्मरण कर लो ।

तत्पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास धीरे धीरे बढ़ाओ और इन्द्रियों को जीतने का अभ्यास करो, क्योंकि जब तक विषय नहीं छूटेंगे, इन्द्रियों को हम वश में नहीं

करेंगे, तब तक परमात्मा के प्रति ध्यान कभी भी नहीं लग सकता। अतएव——

हृदयविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं विसोर्णवत्।
प्राणे नो दीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम्॥

——"हृदय में कमलनालवत् पतले सूत के समान ओङ्कार का चिन्तन करो। फिर उसे प्राणायाम के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में ले जाओ। वहाँ पर ले जाकर घण्टा-नाद के समान स्वर स्थिर करो। उसका ताँता टूटने न पाये। बस, हे उद्धव! इसप्रकार लगातार ध्यान करने से मुमुक्षुओं का ध्यान मुझमें एकाग्र हो जाता है; तब वे मेरी प्राप्ति कर लेते हैं।"

लेकिन इस ध्यान की क्रिया को आप यदि करना चाहें तो यह बहुत ही मुश्किल है। इस युग में मानव का उद्धार भगवान् की भक्ति करने से, उनका भजन करने से, उनके चरणों में प्रेम करने से ही हो सकता है। गोस्वामी जी तो डंके की चोट से कहते हैं कि—— "भवसागर चह पार जो पावा" उसके लिए "राम नाम ता कहुँ दृढ़ नावा"—— जो भवार्णव से पार होना चाहता है, उसके लिए भगवन्नामस्मरण एक जहाज के समान है। गोस्वामी जी तो यहाँ तक कहते हैं कि भले कोई साधक हो, सिद्ध हो, विमुक्त हो, उदासी हो, संन्यासी हो, कवि हो, कोविद हो, लेकिन जब तक वह भगवान् की शरण में नहीं जायेगा तब तक उसका भवार्णव से पार होना बहुत ही मुश्किल है। गोस्वामी जी

लिखते हैं ––

साधक सिद्ध विमुक्त उदासी ।
कवि कोविद कृतज्ञ संन्यासी ।।
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी ।
धर्म निरत पण्डित विज्ञानी ।।
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी ।
राम नमामि नमामि नमामी ।।

तभी तो महर्षि नारदजी श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत कहते हैं ––

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ।।

––भगवान् श्री हरि ही सम्पूर्ण देहधारियों की आत्मा के नियामक और स्वतंत्र कारण हैं । अतः इनके चरण-तत्त्व ही मनुष्यों के एकमात्र आश्रय हैं । इन्हींके द्वारा मानव का कल्याण हो सकता है । इसलिए सज्जनो ! हम सब लोगों को हमेशा भगवान् के चरणों में प्रेम करना चाहिए, क्योंकि भगवान् गीताजी में कहते हैं कि "जो हमेशा मेरे नाम का स्मरण करता है, मेरा भजन करता है, वह मेरी प्राप्ति करता है––

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।

––हे अर्जुन! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परब्रह्म परमात्मा को ही निरन्तर निष्काम भाव से भजनेवाला हो तथा गुण और प्रभाव के श्रवण, कीर्तन, मनन और

पठन-पाठन द्वारा हमेशा मेरी सेवा करनेवाला, मेरी पूजा करनेवाला हो तथा मेरे शंख, चक्र, गदा, पद्म, किरीट-कुण्डलादि भूषणों से युक्त, पीताम्बर-वनमाला कौस्तुभधारी भगवान् विष्णु-रूप को मन, वाणी और शरीर से सर्वस्व अर्पण करणेवाला हो; 'मम गुन गावत पुलक सरीरा, गदगद गिरा नयन बह नीरा' जैसे अतिशय श्रद्धा और प्रेम से युक्त हो तू मुझ सर्वशक्ति-मान्, विभूति, बल,ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता इत्यादि समस्त गुणों से सम्पन्न, सबके आश्रयस्वरूप भगवान् श्रीवासुदेव को भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर तथा मेरी शरण में आ; तू अवश्य मेरी प्राप्ति करेगा ।

(क्रमशः)

•

विश्वास—विश्वास ! अपने आप पर विश्वास, परमात्मा के ऊपर विश्वास—यही उन्नति करने का एकमात्र उपाय है। यदि पुराणों में कहे गये तेंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर और विदेशियों ने बीच बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है, उन सब पर भी तुम्हारा विश्वास हो और अपने आप पर विश्वास न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते ।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण के जीवन का एक दिन

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य

एक दिन क्षुदिराम अपने बैठकखाने में चिन्तामग्न बैठे हुए थे। उनके सबसे छोटे पुत्र गदाधर की आयु छः महीने की हो चुकी थी। अन्नप्राशन होना चाहिये। अन्नप्राशन में व्यय भी कोई कम न होगा। एक दरिद्र वृद्ध ब्राह्मण भला सब गाँव वालों को कैसे भोजन करायेगा? किसको निमंत्रण दे और किसको न दे! सभी तो क्षुदिराम के प्रति श्रद्धा और आदर रखते थे।

उन्हें कुछ भी न सूझ रहा था कि अचानक उनके मन में आनन्द की लहर दौड़ गयी। वे मन ही मन मुस्कराये और कहने लगे, "विश्वभर को अन्न खिलाने वाले के अन्नप्राशन की मुझे क्या चिन्ता?" उन्हें गयाधाम की घटना स्मरण हो आयी। उन्हें विश्वास हो गया कि अपने अन्नप्राशन की सब सामग्री प्रभु स्वयं जुटा लेंगे। इतने में क्षुदिराम के परम मित्र एवं धनवान् जमींदार धर्मदास लाहा वहाँ आये और जब उन्हें अपने मित्र की चिन्ता पता चली तो वे इस कार्य-भार को निभाने सहर्ष तैयार हो गये। फिर क्या था, तैयारियाँ होने लगीं और ग्रामवासियों को निमंत्रण जाने लगे।

अन्त में अन्नप्राशन का दिन आया। क्षुदिराम के आँगन में परमोल्लास से सैकड़ों लोगों ने रघुवीर का

प्रसाद पाया। केवल कामारपुकुर ही नहीं, आसपास के भुरसुबो आदि गाँवों से भी लोग आये। अनेक दरिद्र भिक्षुकों ने भी श्रीरघुवीर का प्रसाद पाया।

सन्ध्या हो चली थी। दिन भर के काम-काज से क्लान्त क्षुदिराम अपनी बैठक में घुसे। धर्मदास लाहा भी वहीं बैठे थे। उनकी ओर देखकर क्षुदिराम सजल नेत्रों से बोले, "मित्र ! तुमने जो उपकार आज किया है वह मैं कभी न भूल पाऊँगा। तुम उदारहृदय हो, भाग्यवान् हो। कंगाल ब्राह्मण के घर प्रभु ने आविर्भूत होकर उसे दुविधा में डाल दिया था। उस चिन्ता से मुक्त कर तुमने मुझ पर जो स्नेह दिखाया है उससे मैं उऋण नहीं हो सकता।" धर्मदास ने रोमांचित देह से आनन्द भरे शब्दों में कहा, "नहीं ! नहीं ! ऐसा न कहिये। यह तो मेरा ही सौभाग्य है कि इस सेवा-कार्य के लिए प्रभु ने मुझे चुना है। इस जीवन में मैंने बहुत धन व्यय किया है और उससे अधिक अर्जन भी किया है। किन्तु व्यय करने में इतना आनन्द इससे पहले कभी नहीं आया।" इतना कहकर धर्मदास बार बार रघुवीर को भूमिष्ठ प्रणाम करते हुए विदा हुए।

●

तप

घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

तप धर्म का एक विशिष्ट अंग है। जीवन में किसी महान् लक्ष्य की प्राप्ति हेतु जो साधना की जाती है, उसमें निरत रहने को तप कहते हैं। यह मानव के साहस और आत्मबल का प्रकटीकरण है, उसकी निश्चयात्मिका बुद्धि और निश्चल धारणा का परिचायक है। इससे महत् संकल्प की सिद्धि होती है। महत् संकल्प अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति अथवा देव-वरदान रूप अजेय शक्ति की प्राप्ति नहीं, वरन् सिद्धि और शक्ति के स्वामी परमात्मा की प्राप्ति है। सभी तपश्चर्याओं का एकमात्र केन्द्र ईश्वर ही है। बल-विद्या और भोगैश्वर्य के लिए तप करना सांसारिक दृष्टि से तो अच्छा है, पर इससे कहीं अधिक अच्छा है प्रभु के लिए तप करना। प्रभु को पा लेने पर यह सारी प्रभुता उस तपस्वी के पास उसकी दासी बनकर चली आती है। उसकी समस्त आकांक्षाएँ पूर्ण हो जाती हैं और वह आप्तकाम बन जाता है। यही है मानव का उच्चतम आदर्श। वह तप जो हृदय-कल्मष को धोकर अन्तर में आत्मज्योति प्रज्वलित कर दे, सर्वश्रेष्ठ तप है।

श्रुति-वाक्यों में कहा है—

'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।'–तै०उ० ३।२।१

—'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करो।'

ब्रह्मज्ञान में तप की ही प्रधानता बतलायी गयी है। चित्त के समाधान और जिज्ञासा की शान्ति के लिए तपस्या परमावश्यक है। इसके बिना पूर्ण प्रतीति नहीं होती, और पूर्ण प्रतीति के बिना चरम सत्य का दर्शन नहीं होता। चरम सत्य का दर्शन ही तो जीवन का प्रमुख उद्देश्य है।

'आत्मविद्या तपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्।'

श्वेता० उ० १।१६

--'वह ब्रह्म जिसमें परम श्रेय आश्रित है, आत्मविद्या और तप का मूल है।'

भगवत्कृपा से ही मनुष्य सांसारिक द्वन्द्वों से निकलकर तपश्चर्या में उतरता है। इसमें सफल होना भी भगवत्कृपा पर ही निर्भर है। इसीलिए ब्रह्म को तप का मूल कहा है।

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।'---मु० उ० ३।१।५

---'सत्य और तप के द्वारा यह आत्मा प्राप्त करने योग्य है।'

तप का शुभ फल आत्मसाक्षात्कार है। यह आत्मसाक्षात्कार किस प्रकार होता है, इस पर भगवती श्रुति कहती है---श्वेता० उ० १।१५

'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः
आपो स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥'

—'जिस प्रकार तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल और काष्ठों में अग्नि देखे जाते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष सत्य (सदसत् विचार) और तप के द्वारा इस आत्मा को देखने का प्रयत्न करता है, उसे यह आत्मा अन्तर में ही दिखायी देता है।'

हृदय-देश में आत्मा का वास है। मायाजनित मानसिक कल्मष के आवरण से यह आत्मा आच्छादित है, इसीलिए उसका दर्शन नहीं हो पाता। तप के प्रभाव से जब मानसिक पाप धुल जाते हैं, तब मन में ज्ञान का उदय होता है। ज्ञानोदय होते ही वह आवरण उसी प्रकार हट जाता है, जिस प्रकार प्रकाश के आने पर अन्धकार लुप्त हो जाता है। ज्ञान से ही आत्मतत्त्व का दर्शन अर्थात् अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

श्रुति ने कहा भी है—

'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते।'

—'तप से मनुष्य पाप का नाश करता है और ज्ञान से अमृतत्व को प्राप्त करता है।'

जिस प्रकार पतझड़ के दिनों में वृक्षों के सूखे और पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और उनके स्थान पर कोमल-कोमल नवीन पल्लव निकलकर वृक्षों को शोभा से मढ़ देते हैं, उसी प्रकार तपःकाल में शरीर और मन के दोष झड़ जाते हैं और उनके स्थान पर शरीर में अद्भुत कान्ति तथा मन में प्रबल भगवन्निष्ठा प्रकट होती है। तपस्वी का मुखमंडल तेज से खिल उठता है और उसका

व्यक्तित्व साधारण पुरुषों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाता है।

श्रुति जहाँ आत्मदर्शन के लिए तप का विधान करती है, स्मृति वहाँ उस तप का सुन्दर रूप प्रस्तुत करती है। स्मृति-वाक्यों में तप का क्रियात्मक स्वरूप परिलक्षित होता है। तप की एक व्यावहारिक परिभाषा हमें महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में मिलती है——

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यो स धर्मः पर उच्यते॥

——शा० पर्व २५०।४

——'मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम श्रेष्ठ तप है। यह सभी धर्मों से बड़ा है। इसी को परम धर्म कहते हैं।'

स्वभाव से ही मन चंचल है और इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। मन को स्थिर करना और इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना——ये तप की प्रधान क्रियाएँ हैं। शास्त्रों में मन-निग्रह को 'शम' और इन्द्रिय-निग्रह को 'दम' की संज्ञा दी गयी है। वेदान्त के सुप्रसिद्ध साधन-चतुष्टय में शम-दम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं क्रियाओं से आन्तरिक शान्ति मिलती है।

जिस प्रकार शान्त जल में स्वरूप का यथार्थ दर्शन होता है, चंचल जल में नहीं, उसी प्रकार शान्त मन में आत्मा का दर्शन होता है, चंचल मन में नहीं। चंचल मन तो इच्छाओं के भार से सदा बोझिल और बेचैन रहा करता है।

'सर्वस्य विद्यते प्रान्तो न वांछाया कथंचन ।'—सभी की सीमा है, पर इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है। वे अनन्त हैं। इच्छाओं का वासस्थान मन है और मन की प्रवृत्ति स्वभावतः संसार के भोग-विषयों की ओर रहती है। इसीलिए मन में भोगेच्छाओं की अप्रतिहत तरंगें उठती रहती हैं। उन इच्छाओं को पूर्ण करने में मनुष्य की समूची शक्ति लगी रहती है। उन अनन्त इच्छाओं को एक मनुष्य कहाँ तक पूर्ण करे! अतएव वह सदा अशान्त, व्याकुल और चिन्तित बना रहता है। उसकी मानसिक शक्ति मन के नाना विषयों से लिपटे रहने के कारण बिखर जाती है। उसका मन दुर्बल होकर अपनी दृढ़ता खो देता है, और वह व्यक्ति भोग का तुच्छ कीड़ा बने रहने के अतिरिक्त और किसी काम का नहीं रह जाता। यह मानव-मन की घोर पतनावस्था है।

ऐसे मन को सबल और स्वस्थ बनाना अनिवार्य है। सबल मन वाला प्राणी ही संसार में महान् कार्य करने तथा आनन्दमय जीवन व्यतीत करने में सक्षम होता है। उसी में आत्मसाक्षात्कार की योग्यता भी होती है। आत्मसाक्षात्कार मानव-जीवन का श्रेय है, और इस श्रेय की प्राप्ति ही जीवन का यथार्थ लाभ है। अब समस्या खड़ी होती है मन को शक्तिशाली बनाने की। इसका एकमात्र समाधान है मन की बिखरी हुई शक्तियों का एकत्रीकरण। यह तभी

सम्भव हो सकता है जब मन से प्रयत्नपूर्वक विषय-चिन्तन को निकालकर आत्मचिन्तन का अभ्यास किया जाय। आत्मचिन्तन के फलस्वरूप वह शान्त और विषयों से पराङ्मुख होगा। विषयों से पराङ्मुख होने पर उसकी बिखरी हुई शक्ति उसी में फिर वापस चली आयेगी। इस शक्ति-संग्रह से मन पुनः सबल हो जायगा और उसकी धारणा भी बलवती हो जायगी। धारणा के परिपुष्ट होने से वह ध्यान के योग्य बन जायगा।

वह लक्ष्य जिस पर मन को केन्द्रित किया जा सके, हृदय-स्थित आत्मा है। यह आत्मा शुभ्र और ज्योतिर्मय है। हृदय के कमलासन पर विराजमान आत्म-स्वरूप परमानन्दमय गुरुदेव अथवा इष्टदेव की चिन्मयी मूर्ति में मन को नियुक्त करना होगा, या फिर भ्रू-मध्य में प्राण और मन को स्थिर कर ब्रह्मपुर-गमन की तैयारी करनी होगी। धीरे-धीरे ध्यान के परिपक्व होने पर एक दिन मन समाधि में उतर आयेगा और तब उस तपस्वी को सच्चिदानन्द ब्रह्म का दर्शन होगा। यही तपस्या का महाफल है।

आत्म-दर्शन के लिए इन्द्रिय-निग्रह परमावश्यक है। इन्द्रिय-संयम के बिना मानसिक एकाग्रता में स्थायित्व नहीं आ सकता और विषय-पदार्थों के सम्मुख आने पर मन के डिग जाने का भय बना रहता है। इन्द्रियों की प्रबलता बतलाते हुए गीता (२/६०—६१) में भगवान् कहते हैं——

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

——'हे अर्जुन ! यत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के संयत मन को भी प्रमथन स्वभाव वाली ये इन्द्रियाँ हर लेती हैं । इसलिए उन सभी इन्द्रियों को वश में करके मुझमें चित्त लगाकर मेरे परायण बने रहो; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसी की बुद्धि स्थिर होती है ।'

पंच ज्ञानेन्द्रियों के पंच विषय हैं और पंच कर्मेन्द्रियों के पंच कार्य । आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा——इन पंच ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श ये पाँच विषय हैं । हाथ, पैर, वाक्, गुदा और उपस्थ इन पंच कर्मेन्द्रियों के क्रमशः ग्रहण, गमन, वचन और मल-मूत्र-निःसरण ये पाँच कार्य हैं । ये दशेन्द्रियाँ सदैव इन बाह्य विषयों और कार्यों में संलग्न रहा करती हैं । इनको इनके विषय से खींचकर इनके गोलकों में स्थिर करना 'दम' की क्रिया कहलाती है । यह क्रिया नदी को उसके प्रवाह की विपरीत दिशा में फेर देने के समान बड़ी दुःसाध्य है, परन्तु निरन्तर अभ्यास करने से इसमें सफलता मिल सकती है ।

श्रुति ने विषयोन्मुख इन्द्रियों की बहिर्मुखी दशा पर भारी क्षोभ प्रकट करते हुए कहा है——

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः
तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्
आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्॥ कठ उ. २।१।१

—'विधाता ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसी से प्राणी बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों का दमन कर लिया है, वैसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा का दर्शन कर पाता है।'

तप में घोर विघ्न उपस्थित करने वाली इन्द्रियाँ दुर्दमनीय हैं। साधक कभी-कभी इनके व्यापार से आकुल हो उठता है और तब इनको बहिर्मुख बनाने वाले भगवान् के प्रति उलाहना भरे शब्द कहता है। इसीलिए तो यमराज ने कहा—'इन्द्रियों को रोकने वाला कोई धीर पुरुष ही आत्मा का दर्शन कर पाता है।'

विषयों के भयंकर दोषों का बारम्बार विचार करना तथा इन्द्रियों को प्रयत्नपूर्वक उनके प्रसंग से दूर हटाना—यही वह अभ्यास है जिससे 'दम' की क्रिया सिद्ध होती है। शब्द पर आसक्त हरिण ने, रूप पर आसक्त शलभ ने, स्पर्श पर आसक्त गज ने, रस पर आसक्त मीन ने और गन्ध पर आसक्त भृंग ने विषय-बन्धन में पड़कर अपने-अपने प्राण गँवाये, तो भला उस मनुष्य की जो एक साथ ही इन पाँचों विषयों पर

आसक्त है, क्या दशा होगी—— इसका अनुमान लगाना भी कठिन है । यही विषयों के भयंकर दोष हैं । सर्प का विष तो सर्प के काटने पर चढ़ता है, पर विषयों का विष उनके इन्द्रियगोचर होते ही चढ़ जाता है । प्रारम्भ में तो विषय-सेवन अमृततुल्य मीठा लगता है, परन्तु उसका परिणाम उतना ही विषाक्त होता है । अतएव इन विषयो से उपराम होने में ही मनुष्य का कल्याण है ।

सतत अध्यवसाय के फलस्वरूप मनुष्य जब इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो वह पूर्ण चैन और शान्ति का अनुभव करता है। उसकी बुद्धि स्थिर और मन की स्थिति अविचल हो जाती है । मनुस्मृति में (२।९८) मनु महाराज जितेन्द्रिय पुरुष की अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं——

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ।।

—— 'जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है अर्थात् विचलित नहीं होता है उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिए ।'

जितेन्द्रिय पुरुष की विषयों में आसक्ति नहीं होती । वह केवल प्रकृतिवश ही उनका सेवन करता है अथवा करता हुआ-सा दिखता है । विषय-सेवन की उसकी स्वयं की कोई चाह नहीं होती । उसकी भावना यही

होती है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं। उसका मन निर्लिप्त होता है। यही उसके आचरण की विशेषता है।

यह धारणा निर्मूल है कि तप संसार अथवा कुटुम्ब में नहीं हो सकता और इसके लिए पर्वत या वनप्रदेशों में ही जाना पड़ता है। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि महापुरुषों ने घर-कुटुम्व में रहकर ही तप किया था। परम सन्त कबीर, भक्तशिरोमणि नामदेव, सन्तप्रवर तुकाराम और परमहंस श्रीरामकृष्ण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

शास्त्र ने कहा भी है—

गृहेषु पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।

—'घर में पंच ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह तप है। विषयानुराग से मुक्त पुरुष का घर ही तपोवन है।'

तप-साधन के लिए एकान्त की आवश्यकता है, वह एकान्त घर-कुटुम्ब में भी मिल सकता है। मनुष्य में तप की जिज्ञासा प्रबल होनी चाहिए, फिर घर में ही उसकी साधना निर्बाध चल पड़ती है। तप के लिए मध्य रात्रि अथवा ब्राह्म-मुहूर्त की वेला सर्वाधिक उपयुक्त है, जब सभी प्राणी गाढ़ निद्रा में निमग्न होते हैं और सर्वत्र स्तब्धता छायी रहती है। जिज्ञासा ही साधना में प्रधान है, स्थान नहीं। स्थान के पीछे भागने-

वाले भटकते ही रहते हैं। निश्चय दृढ़ है तो कोई बाधा नहीं। स्थान, समय और परिस्थिति सभी अनुकूल बन जाते हैं। परम पिता परमात्मा अपने उस दृढ़निश्चयी और निष्ठावान् पुत्र की मनोकामना जानते हैं तथा उसकी पूर्ति के लिए वे सारा प्रबन्ध भी कर देते हैं— अनुकूल संगति, योग्य गुरु, महापुरुषों का सान्निध्य और दिव्य दर्शन आदि-आदि। ऐसे पुरुष का गृह वास्तव में तपोभूमि के समान है।

मनुस्मृति (२/९३) पंचेन्द्रिय-निग्रह का महाफल बतलाते हुए कहती है——

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

——'मनुष्य इन्द्रियों के प्रसंग से निस्सन्देह दोष (पाप) को प्राप्त होता है, और संयम के द्वारा उन्हीं को रोक-कर सिद्धि-लाभ करता है।'

'प्राणायामः परं तपः'——मनुस्मृति में प्राणायाम को परम तप कहा गया है। यह राजयोग का चतुर्थ अंग है। इसे प्राणायाम योग भी कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है। रेचक, पूरक और कुम्भक। रेचक अर्थात् प्राणवायु को प्रश्वास के द्वारा शरीर से बाहर निकालकर रोक देना; पूरक अर्थात् प्राणवायु को श्वास के द्वारा शरीर के भीतर ले जाकर रोक देना और कुम्भक अर्थात् प्राणवायु को श्वास-प्रश्वास की चिन्ता किये बिना वह जहाँ हो वहीं रोक देना —— ये

प्राणायाम की त्रिविध क्रियाएँ हैं। इनसे नाड़ियों का शुद्धीकरण और मानसिक मल का परिष्कार होता है। एक अवस्थाविशेष में कुण्डलिनी के जाग्रत् होने और सुषुम्ना नाड़ी के खुलने से मनुष्य को सहस्रार में आत्मा-रूपी अमृतरस की प्राप्ति होती है।

सामान्यतः आसनासीन होकर ध्यान प्रारम्भ करने के पहले प्राणायाम की पूरक क्रिया हृदय को ईश्वरीय भावों से परिपूर्ण करने के लिए की जाती है। इस क्रिया की अवधि अल्प होती है—अधिक से अधिक पाँच मिनट की। इससे ध्यान को बल मिलता है। योग्य गुरु के संरक्षण के बिना दीर्घकालीन प्राणायाम का अनुष्ठान सर्वथा वर्जित है। स्वतन्त्र रूप से ऐसा करने से शरीर में असाध्य रोगों के लग जाने का भय रहता है; यहाँ तक कि कभी-कभी प्राणान्त भी हो जाता है।

एक चौथा प्राणायाम योगदर्शन में बतलाया गया है। वह सहज योग का प्राणायाम है।

'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।'

—योगसूत्र, २/५१

बाहर-भीतर के विषयों का त्याग कर मन को इष्ट-चिन्तन में लगा देने से एक अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्दातिरेक की अवस्था में जो प्राणों का अत्यन्त हल्का होकर अपने-आप रुक जाना है, वही चतुर्थ प्राणायाम है। मन की चंचलता शान्त

हो जाने पर प्राणों की गति भी शान्त हो जाती है। इस प्राणायाम में उपर्युक्त तीनों क्रियाओं के समान प्रयत्न द्वारा प्राणों को रोकने का अभ्यास नहीं करना पड़ता; यही इसकी विशेषता है। यह प्राणायाम यदि गुरु-कृपा से सिद्ध हो जाय तो इससे भी आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है--

‘ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।’

—योगसूत्र, २/५२

—‘उस (प्राणायाम की सिद्धि) से प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण होता है।’

कर्म-संस्कार, क्रोधादि विकार और अविद्यादि क्लेश--ये ही ज्ञान का आवरण हैं। प्राणायाम के प्रभाव से इनका नाश हो जाने पर साधक के हृदय में ज्ञान सूर्य की भाँति प्रकाशित हो उठता है, और उस ज्ञान के आलोक में आत्मा का दर्शन करके वह कृत-कृत्य हो जाता है।

श्री गीता जी में भगवान् ने तप का एक अद्भुत रूप प्रदर्शित किया है। वहाँ तीन प्रकार के तपों का वर्णन है-- शारीरिक तप, वाङ्मय तप और मानस तप।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्चते॥

--१७/१४

—'देव (इष्टदेव), द्विज (संन्यासी), गुरु और प्राज्ञ (तत्त्वदर्शी आचार्य) की पूजा, शौच, आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य और अहिंसा——यह शारीरिक तप कहा गया है।'

इससे अहंभाव का नाश, अभिमान का क्षय, अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति और आत्मा का दर्शन होता है। शरीर और आत्मा को कष्ट देने वाले हठयोग के तपस्वी को भगवान् ने 'तान्विद्ध्यासुर निश्चयान्' वाक्य द्वारा आसुरी स्वभाव का प्राणी कहा है। उन्होंने घोर तप की निन्दा की है। घोर तप का अर्थ है, दीर्घ उपवासादि द्वारा शरीर को कृश करना, ऊर्ध्व बाहु अथवा एक पैर पर वर्षों खड़े रहना, किसी आधार से रस्सी द्वारा उल्टा लटककर पड़े रहना, आदि आदि। ये शास्त्र-विरुद्ध जघन्य तप अनुष्ठान के योग्य नहीं हैं। इनसे केवल ऋद्धि-सिद्धि की ही प्राप्ति होती है, ब्रह्म-दर्शन नहीं होता।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्चते॥

——गीता, १७/१५

—'मन को शीतल करने वाली मृदु वाणी जो सत्य, प्रिय और हितकारी हो; सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन और मनन तथा भगवान् का नाम-जप, स्तुति, कीर्तन और चर्चा—— यह वाङ्मय तप कहा गया है।'

इससे ब्रह्मविद्या का ज्ञान और अध्यात्म की ओर

प्रगति होती है ।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।

—गीता, १७/१६

—'मन की स्वच्छता, हृदय की शान्ति, आत्म-चिन्तन में लीनता, मन का निरोध और अन्तःकरण की पवित्रता— इसको मानस तप कहते हैं ।'

मानस तप की यह बड़ी सुन्दर क्रम-बद्ध प्रक्रिया है । विषय-संकल्प, राग-द्वेष और काम-क्रोधादि विकारों के मन से निकल जाने पर मन स्वच्छ हो जाता है । मन की स्वच्छता से हृदय शान्त रहता है । शान्त हृदय में आत्मविषयक मनन-चिन्तन जाग्रत् होता है, जिसमें लीन प्राणी स्वाभाविक ही मूक बन जाता है । मौन से मन का निरोध और मन के निरोध से अन्तःकरण पवित्र होता है । पवित्र अन्तःकरण में आत्मानुभूति सरलतापूर्वक उतर आती है । यही परमार्थ-सिद्धि रूप तपश्चर्या की शुभ परिणति है ।

•

हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, विकसित हो, और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे ।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न – (१) ज्ञानस्वरूप परमात्मा मे जीवपने का अज्ञान क्यों ? सूर्य में अन्धकार कैसे ? (२) 'एकोऽहं बहु स्याम्' की कल्पना 'जो तिहुं काल एक रस रहई' परमात्मा ने अपने में किस नीरसता का अनुभव करके किया ?

–प. जगदीशप्रसाद शर्मा, बुल्लापुर

उत्तर – (१) वास्तविक रूप से देखा जाय तो ज्ञानस्वरूप परमात्मा में जीवपना है ही नहीं। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम हुआ। सर्प तो कभी है ही नहीं। रस्सी को कभी सर्प-पने का अज्ञान नहीं होता। यह अज्ञान उसे होता है जो रस्सी से भिन्न है। उसी प्रकार, ज्ञानस्वरूप परमात्मा को कभी जीवपने का अज्ञान नहीं होता। जीवपने का अज्ञान उसे होता है जो परमात्मा से भिन्न है, उससे कटा है, अलग है। तो पूछा जा सकता है कि वह कौन है जो परमात्मा से विलग है ? उत्तर यह है कि अज्ञान ही परमात्मा से विलग है। इसी को 'माया' भी कहते हैं। यह माया परमात्मा से विलग होते हुए भी उसके अधीन है। यह सारा विचार मनुष्य ही करता है। और जब मनुष्य दृश्यमान् जगत् से अतीन्द्रिय सत्ता के अनुभव की ओर यात्रा करता है तो शब्दों के सहारे ही उसे विचार करना पड़ता है। पर शब्द उस अतीन्द्रिय सत्य का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। तथापि

इस संसार को तत्त्व की दृष्टि से समझाना तो पड़ता ही है। इसीलिए वाक्य-विन्यास में सत्य की दृष्टि से अपूर्णता रह जाती है।

हम सत्य की कल्पना करें--एक ऐसा सत्य जहाँ न ज्ञान है, न अज्ञान; न जीवन है, न मृत्यु। उस सत्य पर एक आवरण की कल्पना करें। उस आवरण में क्रमशः विक्षोभ उत्पन्न होता है और धीरे धीरे यह असंख्य नामरूपात्मक जगत् निर्मित होता है। नाम और रूप अपने भीतर **मानो** उस अतीन्द्रिय सत्ता को सीमित कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि वह असीम सत्ता **मानो** सीमित हो गयी। इसी को जीवपना कहते हैं। इन्द्रिय-मन आदि की दृष्टि से जीवपना है सही, पर उस सत्यस्वरूप ब्रह्म की दृष्टि से जीवपना नहीं है।

दूसरा उदाहरण लें। कल्पना करें कि वह सत्य सूर्यसदृश है और आवरण दर्पणसदृश। हठात् दर्पण के टुकड़े टुकड़े हो गये और हर टुकड़े में सूर्य प्रतिबिम्ब के रूप में सीमित हो गया। यह प्रतिबिम्ब जीवपना है। दर्पण की दृष्टि से जीवपना सही है, पर सूर्य की दृष्टि से नहीं। अन्धकार सूर्य में न होकर दर्पण में है, ब्रह्म में न होकर इन्द्रिय-मन आदि में है।

(२) अगर प्रश्न उठाया जाय कि यह अज्ञान कैसे और कब से शुरू हुआ; उस अतीन्द्रिय सर्वव्यापी सत्ता, जिसे परमात्मा कहते हैं, के सामने यह आवरण कब और कैसे उत्पन्न हुआ; ज्ञानस्वरूप चैतन्यमय सूर्य के समक्ष यह जड़ात्मक दर्पण कैसे पैदा हुआ? तो विचार या ज्ञान की दृष्टि से इसका उत्तर है—'पता नहीं।' पर भावना या भक्ति की दृष्टि से उत्तर देना पड़ता है— 'उस एक ने अनेक होने की इच्छा की।' वास्तव में जो 'तिहुं काल एकरस' है, उसमें नीरसता केवल कवि-कल्पना है, यथार्थ नहीं।

●

आश्रम समाचार

(१ मार्च से ३१ अगस्त १९७१ तक)

१. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

एलोपैथी विभाग– आलोच्य ६ माह की अवधि में कुल ३३,२९१ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी, जिनमें १०,७६३ रोगी नये थे । इनमें क्रानिक उदररोग से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या ८५ थी । ३,६३५ इंजेक्शन लगाये गये । ११९ दन्तरोगियों में से ३९ रोगियों के दाँत निकाले गये । सर्जिकल– १४२ । माइनर सर्जिकल आपरेशन– १७ । आँखों के रोगी– २९३ । स्त्री-रोग से रुग्ण– २४२ । एक्स-रे स्क्रीनिंग– २८३ । बेरियम स्टडीज– ११४ । एक्स-रे फिल्म– १५ । सिग-मोइडोस्कोपी– १३ । रक्त-मल-मूत्र परीक्षण– ४७७ नमूने । ए. एच. टेस्ट– ३८ । शिशु रोगी– ४,३५७ । अभावग्रस्त परि-वारों के लगभग १०२५ बच्चों को दूध पाउडर दिया गया ।

होमियोपैथी विभाग– इस विभाग द्वारा १०,७३४ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया, जिनमें २,५०८ रोगी नये थे ।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

आलोच्य अवधि में ग्रन्थालय में १०२ पुस्तकों की वृद्धि हुई । ३१ अगस्त को पुस्तकों की कुल संख्या १[illegible],७१७ थी । इस बीच ९,३८८ पुस्तकें निर्गमित हुई । वाचनालय में पाठकों को १०० पत्र-पत्रिकाएँ और दैनिक समाचार-पत्र उपलब्ध हुए । इस अवधि में लगभग ८,६४० पाठकों ने वाचनालय का उपयोग किया ।

३. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग– रविवासरीय गीताप्रवचनमाला के

अन्तर्गत स्वामीआत्मानन्द ने १४, २१, २८ मार्च तथा ४, ११, १८, २५ अप्रैल को गीता पर प्रवचन दिये । मई और जून ये दो महीने सत्संग का कार्यक्रम बन्द रहा । जुलाई में पुनः वह प्रारम्भ हुआ तथा ४, ११, १८ जुलाई एवं १, ८, २२ अगस्त को स्वामी जी का गीता पर प्रवचन हुआ । अब तक वे गीता पर ११३ प्रवचन दे चुके हैं ।

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य ने ९, १६, २३, ३० मार्च तथा ६, १३, २० अप्रैल को रामचरितमानस पर प्रवचन दिया ।

ब्रह्मचारी सन्तोष ने २ मार्च को नारदभक्तिसूत्र पर प्रवचन दिया ।

११, २५ मार्च एवं ८, २२ अप्रैल को ब्रह्मचारी देवेन्द्र के 'हिन्दूधर्म' पर प्रवचन हुए ।

डा. अशोक कुमार बोरदिया ने ४, १८ मार्च एवं १, १५ अप्रैल को पातंजलयोगदर्शन पर प्रवचन दिया ।

७ मार्च, २५ जुलाई एवं २९ अगस्त को श्री प्रेमचंद जैन की रामायण-कथा हुई ।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

तुलसी जयन्ती– २९ जुलाई को श्रीमती प्रीति त्रिपाठी की अध्यक्षता में तुलसी जयन्ती समारोह सम्पन्न हुआ । इस अवसर पर प्राध्यापिका (श्रीमती) माया अरोरा ने 'तुलसी और नारी' पर, प्रा. लक्ष्मीकांत शर्मा ने 'वाल्मीकि तुलसी भयो' पर तथा श्रीमती प्रतिभा कोतवालीवाले ने 'तुलसी के राम' पर अपने विचार उपस्थित किये । श्रीमती त्रिपाठी ने अपने सारगर्भित अध्यक्षीय भाषण में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन और सन्देश की अपूर्वता की चर्चा की तथा रामचरितमानस को प्रेरक युग-काव्य के रूप में निरूपित किया ।

जन्माष्टमी– १३ अगस्त को जन्माष्टमी का उत्सव सोल्लास मनाया गया। इस उपलक्ष में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था, जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस अवसर पर प्राध्यापिका (श्रीमती) निवेदिता गुप्ता, ब्रह्मचारी देवेन्द्र तथा ब्रह्मचारी सन्तोष ने क्रमशः 'गीतागायक कृष्ण', 'भागवतनायक कृष्ण' एवं 'नृपनायक कृष्ण' इन विषयों पर चर्चा की।

स्वातन्त्र्य दिवस– १५ अगस्त को स्वातंत्र्य दिवस के उपलक्ष में एक परिसंवाद का आयोजन किया गया था, जिसकी अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर के कुलपति श्री बंशीलाल पाण्डे ने की। परिसंवाद का विषय था—'हमारी चार प्रमुख राजनीतिक समस्याएँ।' 'दल-बदल की समस्या' पर वक्ता थे श्री शारदाप्रसाद तिवारी, रायपुर नगर निगम के सचिव। 'बाँगला देश की समस्या' पर प्राचार्य बी. सी. श्रीवास्तव ने अपने विचार रखे। 'नक्सली समस्या' तथा 'तमिलनाडु की पृथकतावादी समस्या' पर ब्रह्मचारी सन्तोष ने प्रकाश डाला।

आश्रम-कार्यकर्ताओं के अन्यत्र कार्यक्रम

स्वामी आत्मानन्द– १३ मार्च को श्रीरामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर के तत्त्वावधान में गीता पर प्रवचन। १६, १७ और १८ मार्च को बैतूल के विवेकानन्द ज्ञान मंदिर द्वारा आयोजित 'गीताज्ञानयज्ञ' में भाग लेकर क्रमशः 'गीता की भूमिका और उसका प्रयोजन', 'गीताप्रतिपादित कर्मयोग' तथा 'गीताप्रतिपादित भक्तियोग' पर व्याख्यान हुए। १७ मार्च को ही अपराह्न में बाँकड़ ग्राम में 'विश्वास' विषय लेकर तथा १८ मार्च की सुबह सारनी थरमल स्टेशन में 'शान्ति की खोज' विषय पर चर्चा की। २१ मार्च को श्रीरामकृष्ण सेवा मण्डल, भिलाई द्वारा आयोजित 'श्रीरामकृष्ण-जयन्ती-महोत्सव' के उपलक्ष में भरी सार्वजनिक

सभा की अध्यक्षता की। २९ और ३० मार्च को फरसदा (सिहावा) में 'धरम काय ए' विषय पर छत्तीसगढ़ी भाषा में दो व्याख्यान दिये। २९ मार्च को बेलरगाँव (सिहावा) में 'शान्ति की खोज' पर, तथा ३० मार्च को सिहावा में सुबह 'जीवन की साधना' पर तथा उसी सन्ध्या नगरी स्थित बुनियादी प्रशिक्षण संस्था में 'वास्तविक शिक्षा का रूप' इस विषय पर प्रवचन दिया।

३ अप्रैल को बिलासपुर की श्रीरामकृष्ण सेवा समिति के तत्त्वावधान में गीता प्रवचन। ८ अप्रैल को शान्तिनगर, रायपुर के राममन्दिर में 'गीता की भूमिका' पर चौथा व्याख्यान। २६ अप्रैल को दानी कन्या उच्चतर माध्यमिक शाला, रायपुर में 'नारी-दर्शन' पर प्रवचन।

९ जुलाई को मुंगेली में 'भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व' पर भाषण दिया। भारतीय विद्या भवन की नागपुर-शाखा की ओर से आयोजित द्वि-दिवसीय प्रवचन-माला में स्वामीजी ने २४ जुलाई को 'वेदान्त और आधुनिक विज्ञान' पर तथा २५ जुलाई को 'उपनिषदों का सौन्दर्य' पर व्याख्यान दिया। इन कार्यक्रमों की अध्यक्षता 'नागपुर-टाइम्स' के प्रमुख सम्पादक श्री अ. गो. शेवड़े ने की। २५ जुलाई की सुबह ललित कला केन्द्र, माधवनगर, नागपुर के तत्त्वावधान में डा० वर्णेकर की अध्यक्षता में आयोजित सभा को स्वामीजी ने 'भगवान् श्रीरामकृष्ण—जीवन और सन्देश' विषय पर सम्बोधित किया।

४ अगस्त को रायपुर के गोपाल-मन्दिर में 'कृष्ण-लीला' पर प्रवचन। १३ अगस्त को वहीं पुनः जन्माष्टमी के कार्यक्रम में भाग लिया और 'क्रान्तिकारी कृष्ण' पर भाषण दिया। १४ अगस्त को बिलासपुर की श्रीरामकृष्ण सेवा समिति के तत्त्वावधान में गीता-प्रवचन। २१ अगस्त को रायपुर के स्नात-

कोत्तर प्रशिक्षण महाविद्यालय में 'शिक्षा और दर्शन' पर व्याख्यान। उसी दिन मनमोहन होजियारी में 'सत्संग की महिमा' पर प्रवचन। २४ से २७ अगस्त तक अकलतरा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के गणेशोत्सव में सम्मिलित होकर क्रमश: 'गणपति रहस्य', 'गीता का प्रयोजन', 'वेदान्त और हमारी समस्याएँ' तथा 'देश की पुकार' विषयों पर प्रवचन हुए। २५ और २७ अगस्त को जाँजगीर में 'धर्म और समाज' विषय पर व्याख्यान हुए। २६ अगस्त को पामगढ़ में 'धर्म का व्यावहारिक स्वरूप' विषय पर भाषण हुआ। २८ अगस्त को कल्याण आश्रम जशपुर में 'विवेकानन्द का आह्वान' विषय लेकर उद्बोधन। २९ अगस्त को वहीं के हरि संकीर्तन भवन में 'धर्म और विज्ञान' विषय पर चर्चा। ३० अगस्त को अम्बिकापुर के सार्वजनिक गणेशोत्सव के तत्त्वावधान में 'धर्म क्या है?' इस विषय पर व्याख्यान हुआ। ३१ अगस्त की सुबह विवेकानन्द स्वाध्याय मण्डल, अम्बिकापुर के तत्त्वावधान में 'राष्ट्रद्रष्टा विवेकानन्द' पर भाषण। उसी रात्रि सूरजपुर (सरगुजा) में 'वेदान्त' पर प्रवचन हुआ।

●

हमारे जातीय शोणित में एक प्रकार के भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय को हँसकर उड़ा देना——गाम्भीर्य का अभाव इस दोष का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो। वीर होओ, श्रद्धासम्पन्न होओ दूसरी बातें उनके पीछे आप ही आयेंगी— उन्हें उनका अनुसरण करना ही होगा।

——स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मिशन समाचार

पूर्व पाकिस्तान शरणार्थी सहायता केन्द्र

जब से पूर्व पाकिस्तान से भारत में शरणार्थियों का भारी संख्या में आना शुरू हुआ है, रामकृष्ण मिशन ने इन निर्वासितों और अत्याचार-पीड़ितों की सेवा के लिए भारत-पाकिस्तान सीमा पर कई सहायता-केन्द्र खोले हैं। जिन स्थानों पर सहायता-केन्द्र कार्य कर रहे हैं, वे निम्नलिखित हैं। डावकी में २ केन्द्र, शेल्ला, इचमती, माणिकगंज, सकती, राधिकापुर, दाड़िमगाँव, फकीरबाजार, गाईघाटा, कालाशिमा, बाकाचोरा, लक्ष्मीपुर और चाँदो भुई (गैरो हिल्स)। त्रिपुरा राज्य में एक नया सहायता-केंद्र खोला जा रहा है।

रामकृष्ण मिशन द्वारा संचालित इन समस्त केंद्रों में शरणार्थियों की संख्या १,३८,१२७ है। डावकी केन्द्र में एक प्राथमिक शाला चलायी जा रही है, जिसमें ४३५ विद्यार्थी हैं।

१४ अप्रैल से ३१ जुलाई तक रामकृष्ण मिशन ने शरणार्थियों के बीच निम्नलिखित वस्तुओं का वितरण किया :—

चावल १५,२२६.८६ क्विटल; आटा ३९०.३८ क्वि.; गेहूँ ५६१.९८ क्वि.; दाल २,२६२.७७ क्वि.; पोहा ८५.६३ क्वि.; सरसों तेल ४३.०८ क्वि.; मसाला १३.६८ क्वि.; नमक २३८.४८ क्वि.; गुड़-शक्कर ३६.७८ क्वि.; तरकारी-भाजी २,६८८.२६ क्वि.; जलाऊ लकडी ८१६.१० क्वि.; दूध पाउडर १२८.८५ क्वि.; बार्ली १२८.२२ क्वि.; ग्लैक्सो. ग्लूकोज ०.६६ क्वि.; बेबी फुड १.२१ क्वि.; डबलरोटी १,२७,५०० पौंड; बिस्कुट ३२ किलो।

उपर्युक्त खाद्य-सामग्री के अतिरिक्त निम्नलिखित वस्तुएँ भी वितरित की गयीं :—

बर्तन १,४०१; लालटेन १५६; चटाई १०४; साबुन ४,३७२; पुस्तकें ६६६; कापियाँ ४८; स्लेट-पेंसिल ३६; सीस २०; जूते ८ जोड़े; कपड़े १४,१५५ नये एवं ३८९ पुराने; ऊनी ब्लैंकेट २९८; धूसा २,१६६; स्वेटर २२८; तिरपाल ४२६।

३२,३७४ लोगों को औषधि प्रदान की गयी। ३६,७२२ लोगों को पक्की रसोई दी गयी। २० व्यक्तियों को आर्थिक सहायता दी गयी।

बाढ़ सेवा कार्य

हाल की अतिवृष्टि से बिहार और बंगाल के कुछ जिले बाढ़ के प्रकोप के शिकार रहे। रामकृष्ण मिशन ने बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए बिहार में पटना और मणीहारी में तथा पश्चिम बंगाल में मालदा म सहायता-कार्य प्रारंभ कर दिये हैं।

विशेष द्रष्टव्य :– जो लोग उपयुक्त कार्यों के लिए अपनी ओर से आर्थिक एवं अन्य किसी प्रकार की सहायता पहुँचाना चाहते हैं, वे सहायता की राशि सीधे "जनरल सेक्रेटरी, रामकृष्ण मिशन, पो. बेलुड़ मठ, जिला हावड़ा (प. बं.)" के पते पर भेज सकते हैं।

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मृति मन्दिर, खेतड़ी

(अप्रैल १९७० से मार्च १९७१ की रिपोर्ट).

राजस्थान प्रदेश में स्थित रामकृष्ण संघ की इस एकमात्र शाखा की स्थापना सन् १९५८ में हुई थी। खेतड़ी के साथ स्वामी विवेकानन्द का विशेष सम्बन्ध रहा है। खेंतड़ी के राजा अजीतसिंहजी ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था। वे अपुत्रक थे। स्वामीजी के आशीर्वाद से राजा को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। स्वामीजी को अमेरिका भेजने में खेतड़ी-नरेश का विशेष हाथ था। उनके प्रपौत्र राजा बहादुर सरदारसिंह जी ने खेतड़ी का राजमहल, जिसमें स्वामी विवेकानन्द का पावन निवास

हुआ था, रामकृष्ण मिशन को दान में दे दिया और इस प्रकार इस शाखा का प्रारम्भ हुआ। आलोच्य वर्ष में इस शाखा की गतिविधियाँ निम्नलिखित थीं :—

मातृसदन तथा शिशु कल्याण केन्द्र--यह आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित एक प्रसूति केन्द्र है। आलोच्य वर्ष में ८७ प्रसूतियाँ हुईं। इसके अनुभवी कर्मचारी घरों में भी जाकर प्रसूति के पूर्व और उसके पश्चात् भी देख-रेख करते हैं। ऐसी ३,३८२ प्रसूतियों की परिचर्या इस वर्ष की गयी।

सारदा शिशु विहार--इस बालवाड़ी में ७ कक्षाएँ (२ शिशु एवं ५ प्राथमिक) चलती हैं तथा लगभग २५० बच्चे मांटेसरी पद्धति से शिक्षा पा रहे हैं। बच्चों को विटामिन और पौष्टिक आहार दिया जाता है तथा उनके खेल-कूद और मनोरंजन की भी समुचित व्यवस्था है।

नि:शुल्क पुस्तकालय तथा वाचनालय--पुस्तकालय में सम्प्रति ४,२०८ पुस्तकें हैं तथा वर्ष भर में ५,३७६ पुस्तकें निर्गमित की गयीं। इसके अलावे, शिशु विहार का अपना अलग पुस्तकालय है, जिसमें शिशु साहित्य की ७८८ पुस्तकें हैं। वाचनालय में ८ दैनिक समाचार-पत्र तथा ३० से ऊपर नियतकालिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। प्रतिदिन लगभग ५० पाठकों द्वारा वाचनालय का उपयोग किया जाता है।

धार्मिक और सांस्कृतिक कार्य--आश्रम तथा आसपास के नगरों में नियमित धार्मिक प्रवचन, गीता-उपनिषद् आदि धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ, उत्सवों का आयोजन इत्यादि कार्यक्रम चलते रहते हैं। बीच बीच में शिशु विहार के बच्चों के सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत होते रहते हैं। ये कार्यक्रम बड़े जनप्रिय हुए हैं।

भावी योजना इस केन्द्र के उपर्युक्त सेवा-कार्यों के विस्तार की योजना बनायी गयी है। किसी भी प्रकार की सहायता इस केन्द्र के सचिव द्वारा साभार स्वीकार की जायगी।